अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र

सर्वोदय जगत

वर्ष: 44, संयुक्तांक: 20-21, 1-30 जून 2021

भारत को 21वीं सदी के लिए एक जेपी की जरूरत है

सर्व सेवा संघ
(अखिल भारत सर्वोदय मंडल)
द्वारा प्रकाशित

अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र
सर्वोदय जगत
सत्य, अहिंसा एवं सर्वोदय-सम्पूर्ण क्रांति का संदेश वाहक

वर्ष : 44,संयुक्तांक : 20-21, 1-30 जून 2021

अध्यक्ष
चंदन पाल

संपादक
बिमल कुमार
सहसंपादक
प्रेम प्रकाश
09453219994

संपादक मंडल
डॉ. रामजी सिंह **अरविन्द अंजुम**
प्रो. सोमनाथ रोडे **अशोक मोती**

संपादकीय कार्यालय
सर्व सेवा संघ
राजघाट, वाराणसी-221001 (उ.प्र.)
फोन : 0542-2440-385/223
ईमेल : sarvodayajagat@gmail.com
Website : sssprakashan.com

शुल्क

एक प्रति	:	10 रुपये
वार्षिक	:	100 रुपये
आजीवन	:	1000 रुपये

खाता संख्या : 383502010004310
IFSC Code : UBIN0538353
Union Bank of India
Rajghat, Varanasi

इस अंक में...

1. संपादकीय... 2
2. भारत को 21वीं सदी के लिए एक जेपी की... 3
3. जब गांधी ने नस्लभेद के विरुद्ध आंदोलन... 5
4. एक योद्धा, जिसे अंग्रेजों ने 'इंडियन रॉबिन हुड'... 6
5. घृणा और हिंसा के प्रति समाज के रवैये से... 7
6. सन्देह के आधार और सौदे की... 9
7. तानाशाही का राष्ट्रवादी रंग बहुत मोहक होता... 12
8. अतीत से सबक लेने का समय... 13
9. फिलिस्तीन के हमारे प्रिय लोगों! हमारी चुप्पी के... 16
10. सातवीं सालगिरह और लोकप्रियता का... 17
11. किसान आंदोलन का विस्तार हो रहा है!... 18
12. कोई समाज अपने इतिहास की गलतियों को... 19
13. बाउल गायकी की राजधानी केंदुली की... 21
14. विदूषक कारखाना की आखिरी खिड़की... 25
15. 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात'... 26
16. अदम्य संघर्ष की दुर्द्धष गाथा... 27
17. या इलाही ये माजरा क्या है?... 29
18. हमने नाइजीरिया को भी पछाड़ दिया है!... 30
19. शिक्षा की राजनीतिक आर्थिकी... 33
20. डॉ. गया प्रसाद कटियार... 36
21. एक दलित यौनकर्मी की कवयित्री बनने की... 37
22. कोरोना के बाद वैश्विक स्तर पर कृत्रिम... 38
23. राजनैतिक दलों के अंदर लोकतंत्र का अभाव... 39
24. कविता... 40

संपादकीय

संपूर्ण क्रांति की विरासत

आजादी के बाद गांधीजी अहिंसक क्रांति के माध्यम से लोकसत्ता का निर्माण करना चाहते थे, किन्तु राजसत्ता केन्द्रित परिवर्तन की नीति के कारण 'लोक' को लक्ष्य समूह (Target Group) एवं लाभार्थी (Beneficiary) में तब्दील कर दिया गया। राजसत्ता एवं अर्थसत्ता अधिकाधिक केन्द्रीकृत होती चली गयी। इस कारण प्राकृतिक स्रोतों व संसाधनों पर केन्द्रीकृत व्यवस्थाओं का वर्चस्व बढ़ता गया। परिणामतः परंपरागत समुदायों की बेदखली, विस्थापन एवं पलायन भी बढ़ता चला गया। लोक समुदाय के स्वामित्व का विचार कमजोर पड़ता गया तथा लोकसत्ता के निर्माण का कार्य एवं लोकशक्ति द्वारा परिवर्तन की संभावना भी धूमिल होती चली गयी।

मुसहरी में अहिंसक क्रांति के प्रयोग के बाद जेपी की समझ में यह भी आ गया था कि स्थानीय स्तर पर ग्राम स्वराज्य के प्रयोग की एक सीमा है। जब तक वह एक राष्ट्रीय आंदोलन से नहीं जुड़ेगा, तब तक संपूर्ण परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त नहीं होगा।

जेपी के नेतृत्व में संपूर्ण क्रांति का आंदोलन मूलतः लोकसत्ता के निर्माण का आंदोलन था। इसके मुख्य बिन्दु थे—1. सत्याग्रह एवं वैकल्पिक रचना को एक प्रभावी शक्ति के रूप में स्थापित करना, 2. लोकसत्ता को परिवर्तन की शक्ति का स्रोत बनाना तथा परिवर्तन का वाहक बनना, 3. लोक एकता में बाधक बनने वाली सभी शक्तियों को निष्प्रभावी करना, 4. श्रम का शोषण (अर्द्ध सामंती व पूंजीवादी) खत्म करना, 5. प्राकृतिक संसाधनों के दोहन को रोकना आदि।

परिवर्तन के इन प्रारंभिक बिन्दुओं से यह आंदोलन जीवन व समाज के सभी क्षेत्रों में आमूलचूल परिवर्तन का वाहक बनता, जिसमें एक नये मनुष्य का, उच्च चेतना व उच्च नैतिकता वाले मनुष्य का निर्माण होता। मूल्य, मानसिकता तथा व्यवस्था में परिवर्तन का चक्र लोकसत्ता के माध्यम से एक साथ चलायमान होता। तात्कालिक दृष्टि से इस आंदोलन का मुख्य फोकस यह था कि केन्द्रीकृत शक्तियों पर लोकसत्ता का नियंत्रण कैसे कायम हो। प्रतिनिधियों को वापस बुलाने का अधिकार और ग्राम व लोक स्तर पर 'जनता ही सरकार' के विचार को मूर्तरूप देने का अभियान सघन रूप से चलाया गया। यह तय हुआ कि जनता के आंदोलन अब राजनीतिक दलों के दायरे के बाहर खड़े किये जायेंगे। इस आंदोलन में दलों के लोग भी आये, लेकिन दलीय अस्मिता को छोड़कर। इस आंदोलन में कार्यकर्ता की गरिमा एवं स्वायत्तता भी स्थापित हुई। अब कार्यकर्ता लोकसत्ता का प्रतिनिधि बन रहा था।

संपूर्ण क्रांति आंदोलन को अपने प्रारंभिक काल में तात्कालिक चुनौतियों पर अधिक ध्यान देना पड़ा। आपातकाल में तो मुख्य चुनौती संवैधानिक तानाशाही से लड़ना ही हो गया था। इस कारण वैकल्पिक समाज रचना का पक्ष मजबूत नहीं बन पाया। दूसरी बात, सन् 1990 के दशक में एक बड़ा परिवर्तन पूंजी व बाजार के वैश्वीकरण के रूप में आया। वैश्वीकरण की शक्तियों के प्रभाव के विस्तार के कारण लोकसत्ता के निर्माण का कार्य और कमजोर पड़ गया। राष्ट्रों का नव-औपनिवेशिक दोहन व प्राकृतिक संसाधनों की लूट आज की वैश्वीकरण की प्रक्रिया में कई गुना तेज हो गयी है। वैश्वीकरण की शक्तियों का समर्थन करने वाली राजनीतिक शक्तियों को बड़े कारपोरेट घरानों का समर्थन प्राप्त है। कारपोरेट घरानों द्वारा नियंत्रित मीडिया सही मुद्दों को विमर्श से बाहर रखती है। संकीर्ण पहचान आधारित सामाजिक गिरोहों के निर्माण का कार्य भी इनके द्वारा चलाया जा रहा है। समाज के अंदर नफरत एवं वैमनस्य फैलाकर लोक एकता को खंड-खंड किया जा रहा है।

उपरोक्त कारणों से संपूर्ण क्रांति आंदोलन की विरासत को आगे बढ़ाने में और बड़ी चुनौतियां खड़ी होती जा रही हैं। आज संपूर्ण क्रांति आंदोलन एवं अहिंसक क्रांति के आंदोलन के सामने ये प्रमुख चुनौतियां हैं—1. वैश्वीकरण की शक्तियों के खिलाफ खड़े होने की, 2. प्राकृतिक संसाधनों के लूट और दोहन के खिलाफ खड़े होने की, 3. परंपरागत समुदायों, जो जल-जंगल-जमीन-खनिज आदि से सहजीवी होकर जुड़े रहे हैं, उन समुदायों के विस्थापन व पलायन के खिलाफ खड़े होने की तथा उन्हें क्रांति का मुख्य सामाजिक आधार बनाने की, 4. गांव व खेती को नष्ट करने की साजिशों (जैसे नये कृषि कानून आदि) को नाकाम करने की, 5. लोक में संकीर्ण पहचानों को मजबूत कर, लोकसत्ता को कमजोर करने की साजिशों को नाकाम करने की और 6. इन सबके साथ लोक अधिकारों एवं नागरिक अधिकारों के हनन को रोकने की।

जेपी ने कहा था कि संपूर्ण क्रांति सतत् आरोहण की प्रक्रिया है। यही हमारा मूल मंत्र है।

-बिमल कुमार

भारत को 21वीं सदी के लिए एक जेपी की जरूरत

❑ योगेन्द्र यादव

बिहार आंदोलन के इतिहास में 5 जून 1974 का दिन एक निर्णायक मोड़ लेकर आया. जयप्रकाश नारायण यानी जेपी ने इस दिन पटना की एक विशाल सभा में सम्पूर्ण क्रांति का आह्वान किया. सम्पूर्ण क्रांति बिहार आंदोलन का युद्धनाद बन गया. 'सम्पूर्ण क्रांति अब नारा है, भावी इतिहास हमारा है' – जैसे नारों से इंदिरा गांधी की सत्ता को दी जा रही चुनौती की सियासी फिजां गूंज रही थी. इसी सियासी फिजां में आगे चलकर देश में इमर्जेंसी लगी और बाद को 1977 में बुलेट से नहीं, बैलेट-बॉक्स से इस देश में एक क्रांति हुई.

क्या बीते वक्त और उसकी विचारधारा की याद दिलाता ऊपर का ये मुहावरा आज भी किन्हीं अर्थों में हमारे लिए प्रासंगिक है? मुझे लगता है कि हां, कुछ तो प्रासंगिक है ही. इसी कारण 5 जून को सम्पूर्ण क्रांति दिवस मनाने का संयुक्त किसान मोर्चा का आह्वान गहरे ऐतिहासिक महत्व का है.

भारत को आस बंधाने की जरूरत

अपने पूर्ववर्ती दौर में जब मैं जनमत, रुझान और बरताव का अध्येता हुआ करता था, एक चीज मुझे हमेशा चौंकाती थी कि भारत की जनता बड़ी आशावादी है. चाहे जमीनी स्तर पर सच्चाई कितनी भी भयानक हो, लोगों से पूछो कि भविष्य को लेकर आपने क्या उम्मीदें बांधी हैं तो उनका जवाब बड़ा सकारात्मक हुआ करता था. मेरा विश्लेषक मन इस बात से बड़े चक्कर में पड़ता और मेरे भीतर का राजनीतिक बड़ा परेशान होता कि ऐसी दुर्दशा में होने के बावजूद लोग भविष्य को लेकर इतना आश्वस्त कैसे हो सकते हैं. पीछे मुड़कर देखता हूं तो लगता है कि शायद यह लोगों का भोला आशावाद ही है, जो बड़ी-बड़ी बाधाओं के बावजूद इस देश में लोकतंत्र को जिन्दा रखने के लिए आक्सीजन का काम करता आया है.

लेकिन इस आशावाद को आज खतरा है. सीएमआईई के महेश व्यास का कहना है कि अगले साल भर में जिन परिवारों को अपनी आमदनी बढ़ने की उम्मीद है, उनकी तादाद घटकर 5 फीसदी रह गई है जबकि साल 2019 में ऐसी उम्मीद बांधने वाले परिवारों की संख्या 30 प्रतिशत थी, जबकि उस समय अर्थव्यवस्था पटरी से उतर चली थी। महेश व्यास ने जिस दिन ये बात बतायी, ठीक उसी दिन फिक्की के बिजनेस कॉन्फिडेंस सर्वे में आया कि बिजनेस कॉन्फिडेंस का सूचकांक गोता खा रहा है। इसी कड़ी में यशवंत देशमुख का कहा भी जोड़ लीजिए. वे कोई मोदी-विरोधी नहीं हैं. यशवंत देशमुख के मुताबिक सी-वोटर सर्वे के तथ्य बता रहे हैं कि 80 प्रतिशत देशवासी हताशा में हैं, वे कह रहे हैं कि कोई भी चीज अभी ठीक होती नहीं जान पड़ रही.

आज के भारत में आशा सबसे दुर्लभ शय है. आशा का न होना दरअसल मोदी सरकार से लोगों के विश्वास के उठने की सूचना है, लेकिन यही बात विपक्ष और भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए भी एक चुनौती है. देश को अभी आशा बंधाने की सख्त जरूरत है.

आशा के लिए विचारधारा जरूरी

ये कोई सकारात्मक राजनीतिक संवाद कायम करने की चुनौती नहीं है. ये चुनौती कोई चुस्त सियासी नारा या कोई नया जुमला गढ़ने की नहीं है. देशवासियों ने नारा और जुमला बहुत देख लिया. लोगों ने 'अच्छे दिन' के जुमले पर विश्वास किया और यकीन के इस जन्नत की हकीकत भी देख ली. लोग छटपटा रहे हैं कि कुछ ऐसा हो कि आस बंधे, वे यकीन करना चाहते हैं लेकिन किसी ऐसी शय पर जो भरोसे के काबिल हो, जिसके पांव धरती पर हों, जो रास्ता दिखा सके और उस रास्ते पर चलने के लिए साधन जुटा सके.

यही काम विचारधारा करती है. विचारधारा समझ का एक चौखटा देती है, जिसके सहारे आप अपने वर्तमान को समझते हैं और जान पाते हैं कि आपके वर्तमान में क्या कुछ है, जो गलत है और आप बदलाव के लिए जरूरी संकेत-चिन्हों को पहचान पाते हैं. विचारधारा एक युटोपिया परोसती है, सपनों के घेरे में बनी एक भावी मंजिल, जिसकी तरफ हमें आस बांधकर चलना होता है कि आखिर को वहां पहुंच ही जायेंगे. साथ ही, विचारधारा बदलाव के वाहकों और उनकी रणनीतियों के सहारे भावी मंजिल तक पहुंचने का एक रास्ता बताती है. विचारधारा की नींव पर तामीर होने वाले राजनीतिक गढ़ों-मठों के ढहने के बाद 21 वीं सदी में इस शब्द (विचारधारा) का नाम लेने का चलन नहीं रहा. लेकिन अपने को भ्रम में रखना ठीक नहीं है। जो लोग ये कहते पाये जाते हैं कि हमारी विचारधारा मत खोजिए, हम विचारधारा से परे हैं, दरअसल ऐसे लोग भी एक खास विचारधारा के पैरोकार हैं, जिसका नाम है यथा-स्थितिवाद. भारत को यथा-स्थितिवाद की नहीं, बल्कि आगे की राह खींचती विचारधारा की जरूरत है, जो विश्वास जगाये, आस बंधाये.

ये काम पहले से चली आ रही किसी विचारधारा के सहारे नहीं हो सकता. हम लोग 19वीं सदी की विचारधाराओं की ठठरी ढोते-संभालते हुए 21वीं सदी में बहुत दूर चले आये हैं. ये विचारधाराएं 20 वीं सदी के उत्तरार्ध में ही पुरानी पड़ चुकी थीं और इस 21वीं सदी में ऐसी विचारधाराओं से समझ का कोई दरवाजा नहीं खुलता. ये बात जितनी दक्षिणपंथी विचारधाराओं के लिए सच है, उतनी ही वामपंथी विचारधाराओं के लिए. गुजरे वक्त के हाथ से बनी ये विचारधाराएं आज के वक्त की नई सच्चाइयों को अपने पूर्व-निर्मित खांचे में फिट करने के चक्कर में उसका मुखड़ा ही बिगाड़ देती हैं. ये पुरानी विचारधाराएं नए विचार, नये मुद्दे और नयी ऊर्जा को अपने दायरे में जगह दे पाने में नाकाम हैं. विभिन्न विचारों को एक प्रवाह में लाने की जगह, हम अब कहीं की ईंट को कहीं के रोड़े से जोड़कर विचारधारा की राह बनाने की जुगत में लगे हैं। लेकिन

विचारधाराओं का ऐसा घालमेल लोगों में कोई उम्मीद नहीं जगाता.

सम्पूर्ण क्रांति

सोच के इसी मुकाम पर याद आता है जेपी का सम्पूर्ण क्रांति का आह्वान. उन्होंने जिस वक्त ये आह्वान किया, उस वक्त तक वे अपने समय की तमाम विचारधाराओं को टोह और टटोल चुके थे. उनके बचपन के दिन मासूम से राष्ट्रवाद की लकीर पर गुजरे, युवावस्था में वे मार्क्सवाद-लेनिनवाद के अनुगामी होकर संयुक्त सोवियत गणराज्य के अगड़धत्त समर्थक बने. फिर जब उम्र की चौथी दहाई में पहुंचे तो कम्युनिज्म से उनका मोहभंग हुआ और इस मोहभंग में पहले वे लोकतांत्रिक समाजवाद की तरफ झुके, फिर गांधी और विनोबा की तरफ. सन् साठ के दशक में उन्होंने कम्युनिटेरियन विचारधारा की पैराकारी की. सम्पूर्ण क्रांति का उनका आह्वान उनकी विचार-यात्रा में आने वाला कोई अगला पड़ाव नहीं, बल्कि उनकी वैचारिक यात्रा का चरम फल और 20वीं सदी की तमाम विचारधाराओं को एक सूत्र में पिरोकर हमारे उद्देश्यों को साधने के उनके उपक्रम का परिणाम है.

जेपी अपने समय से आगे थे. सो, सम्पूर्ण क्रांति का उनका विचार कुछ अनगढ़ जान पड़ता है. वे बस इतना ही भर कह पाये कि सम्पूर्ण क्रांति से आशय व्यवस्था और व्यक्ति दोनों ही की आमूल पुनर्रचना से है, मतलब राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज, संस्कृति और अध्यात्म के स्तर पर एक क्रांति. उन्होंने जोर देकर कहा कि क्रांतिकारी बदलाव अनिवार्यतया अहिंसक होना चाहिए और ये क्रांति रातों-रात नहीं हो सकती.

जेपी के कंधे पर चढ़कर अपनी दुनिया को देखें तो हम विचारधारा के मोर्चे पर कुछ और बेहतर कर सकते हैं. हम उन विचारधाराओं को जोड़ सकते हैं, जो जेपी की वैचारिक यात्रा में शामिल नहीं हो पायी थीं, जैसेः महात्मा फुले और आंबेडकर की विरासत, नारीवाद, पर्यावरणवाद. हम उन मसलों के बारे में भी सोच सकते हैं, जिन पर जेपी ज्यादा नहीं सोच पाये, जैसेः जाति, लिंग, पारिस्थितिकी, सूचना-संक्रांति. हम 19 वीं सदी की विचारधाराओं से लगे-बंधे अंधविश्वासों को हटा सकते हैं, जैसे ये विचार कि इतिहास धारा को उसकी नियति तक पहुंचाने वाला एक हरावल दस्ता होता है, कि क्रांतिकारी बदलाव का एक सार्वभौम मॉडल होता है या फिर ये मान्यता कि क्रांति एक झटके में होती है. किसी सार्वभौम युटोपिया (मनोराज्य) में अच्छे समाज का विचार तलाशने की जगह हम अपनी नई विचारधारा, भारत के संविधान के मूल्यों को जमीन बनाकर भी गढ़ सकते हैं. दरअसल, हम क्रांति के विचार में एक क्रांतिकारी शिद्दत भर सकते हैं.

ऐसी विचारधारा को गढ़ना हमारे समय की सबसे बड़ी चुनौती है. यह सिर्फ राजनेताओं और कार्यकर्ताओं के लिए ही नहीं, बल्कि सभी सामाजिक कार्यकर्ताओं, बुद्धिजीवियों, विद्वानों और कलाकारों के लिए भी चुनौती है. आइए, उम्मीद बांधें कि 5 जून से हम इस कठिन, मगर जरूरी यात्रा पर निकलेंगे. ❑

गांधी मणिमुक्ता

गांधी जी और संस्था की सदस्यता

दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश लौटने पर गांधी जी के सम्मान में गोखले जी ने पूना में एक सभा का आयोजन किया था। गोखले जी चाहते थे कि गांधी जी उनकी संस्था सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी के सदस्य बनें। तब कुछ सदस्यों में अपने प्रति विरोध व असहमति देखकर गांधी जी ने निर्णय लेने के लिए उनसे समय मांगा। कुछ ही महीने बाद गोखले जी का अवसान हुआ, तब गांधी जी शांतिनिकेतन में थे। अपने गुरू के अवसान की खबर पाकर वे यात्रा संबंधी तमाम अवरोधों को झेलकर पूना पहुंचे। शांतिनिकेतन से पूना तक की यात्रा के दौरान उन्होंने गोखले जी के प्रति अपनी सेवा को आगे बढ़ाने की दृष्टि से उक्त संस्था का सदस्य बन जाने का सोचा। उसमें उनको गोखले जी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि की प्रतीति हुई। पूना पहुंचकर उन्होंने अपने मनोगत से संस्था के पदाधिकारियों तथा सदस्यों को अवगत कराया। कइयों को यह जानकर खुशी हुई और कुछ इससे असहमत हुए। तय हुआ कि सब सदस्यों की सभा बुलाकर गांधी जी की सदस्यता पर निर्णय लिया जाए। गांधी जी ने अपनी आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' में जो लिखा, उसे संस्थाओं के सदस्य बनने को अधीर या संस्थाओं को हड़पने को अधीर बने लोगों को ध्यान से पढ़ना चाहिए—

"मैंने स्पष्ट देखा कि जब तक सोसाइटी के सदस्यों में मुझे दाखिल करने के बारे में मतभेद रहे, तब तक स्वयं मुझको दाखिल करने या दाखिल होने का आग्रह छोड़ देना चाहिए और इस प्रकार विरोधी पक्ष को नाजुक स्थिति में पड़ने से बचा लेना चाहिए। उसी में सोसाइटी और गोखले जी के प्रति मेरी वफादारी है। ज्यों ही मेरी अंतरात्मा में इस निर्णय का उदय हुआ, त्यों ही मैंने शास्त्री जी को पत्र लिखा कि वह मेरे प्रवेश के विषय में सभा बुलाएं ही नहीं। विरोध करने वालों को मेरा यह निश्चय बहुत पसंद आया। वे धर्मसंकट से बच गए। उनके और मेरे बीच की स्नेहगांठ अधिक दृढ़ हो गई और सोसाइटी में प्रवेश पाने की अपनी अर्जी को वापस लेकर मैं सोसाइटी का सच्चा सदस्य बना गया।

अनुभव से मैं देखता हूं कि मेरा, प्रथा के अनुसार सोसाइटी का सदस्य न बनना ही उचित था, और जिन सदस्यों ने मेरे प्रवेश का विरोध किया था, उनका विरोध वास्तविक था। अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि उनके और मेरे सिद्धांतों के बीच अंतर था। किंतु मतभेद को जान चुकने पर भी हमारे बीच आत्मा का अंतर कभी नहीं पड़ा, खटाई कभी पैदा नहीं हुई। मतभेद के रहते भी हम परस्पर बंधु और मित्र रहे। सोसाइटी का स्थान मेरे लिए यात्रा का धाम रहा है। लौकिक दृष्टि से मैं भले ही उस का सदस्य नहीं बना, पर आध्यात्मिक दृष्टि से मैं उसका सदस्य रहा ही हूं। लौकिक संबंध की अपेक्षा अध्यात्मिक संबंध अधिक मूल्यवान है। आध्यात्मिक संबंध से रहित लौकिक संबंध प्राणहीन देह के समान है।

7 जून, 1893 जब गांधी ने नस्लभेद के विरुद्ध आंदोलन की नींव रखी थी

इतिहास में कुछ तारीखें इतिहास और मानव चिंतन की धाराएं बदल कर रख देती हैं। ऐसी ही तारीखों में 7 जून की तारीख भी है, जब दक्षिण अफ्रीका के एक अज्ञात रेलवे स्टेशन पीटरमारिट्जबर्ग पर 7 जून 1893 को गांधी जी को धक्का देकर ट्रेन से जबरन उतार दिया गया था। उनका सामान प्लेटफार्म पर फेंक दिया गया था। 7 जून 1893 के दिन, स्टेशन के प्लेटफार्म से उठ कर गांधी जी ने पूरी कड़कड़ाती ठंडी रात वेटिंग रूम में बिताई और वहीं से सत्याग्रह के मंत्र का उद्घोष हुआ। उनका सामान फेंकने और उनको धक्का देकर उतारने वाले अंग्रेज टीटीई के गुमान में भी कभी यह नहीं रहा होगा कि एक साधारण सा काला, गुलाम देश का बैरिस्टर, ब्रिटिश साम्राज्य को भी ऐसे ही किसी दिन झटक कर फेंक देगा और बर्तानिया राज में कभी न डूबने वाला सूरज इंग्लिश चैनल पर ही अस्त होने लगेगा।

गांधी तब गुजरात के राजकोट में वकालत करते थे। उन्हें दक्षिण अफ्रीका से सेठ अब्दुल्ला नामक एक भारतीय ने अपना मुकदमा लड़ने के लिए दक्षिण अफ्रीका बुलाया था। तब दक्षिण अफ्रीका भी ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत था। पर वहां के नागरिकों की स्थिति भारत के नागरिकों की तुलना में बेहद खराब थी। रंगभेद चरम पर था और यह व्याधि हाल तक वहां रही। दादा अब्दुल्ला का मुकदमा लड़ने के लिए गांधी जी, पानी के जहाज से दक्षिण अफ्रीका के डरबन पहुंचे थे। वहां से उन्होंने मुक़दमे के सिलसिले में प्रिटोरिया जाने के लिए 7 जून 1893 को ट्रेन पकड़ी थी।

गांधी जी जिस ट्रेन से सफर कर रहे थे, उसी ट्रेन का, उनके पास फर्स्ट क्लास का टिकट भी था। वे निश्चिंतता से जाकर अपने कूपे में निर्धारित जगह पर बैठ गए। डरबन से ट्रेन चली। ट्रेन जब पीटरमैरिट्जबर्ग स्टेशन पहुंची, तब टीटी आया और उन्हें उसी ट्रेन के थर्ड क्लास डिब्बे में जाने के लिए कहा। इस स्टेशन पर एक गोरा यात्री चढ़ा था, जिसने एक अश्वेत व्यक्ति को कूपे में बैठे देखकर आपत्ति की थी। बात टिकट की थी ही नहीं। बात थी कि एक अश्वेत व्यक्ति कैसे एक गोरे व्यक्ति के साथ फर्स्ट क्लास में सफर कर सकता है। रंगभेद के श्रेष्ठतावाद का यह घृणित रूप था।

गांधीजी ने टिकट का हवाला दिया और अपने बारे में बताया। यह भी बताया कि उन्होंने लंदन से बैरिस्टरी पास की है और यहां एक मुक़दमे के सिलसिले में आये हैं और उसी सिलसिले में प्रिटोरिया जा रहे हैं, पर टीटीई ने उनकी एक न सुनी। उसने गांधी जी को उतर जाने को कहा। गांधी ने उतरने से इनकार कर दिया। इस पर उन्हें धक्का देकर नीचे उतार दिया गया और उनका सामान प्लेटफार्म पर फेंक दिया गया। ट्रेन चली गयी। अपमानित गांधी, कड़कड़ाती ठंड में, प्लेटफार्म पर ही पड़े रहे। जून का महीना, दक्षिण अफ्रीका में ठंड का महीना होता है। उठ कर वह स्टेशन के वेटिंग रूम में पहुंचे।

उस रात वे पूरी तरह से जगे रहे। रात भर वे चिंतामग्न रहे। तरह तरह की बातें दिमाग मे आती रहीं। गांधी जी ने उक्त घटना के बारे में लिखा है कि, 'एक बार ख्याल आया कि वे बिना कोई प्रतिक्रिया पाले भारत वापस लौट जाएं। लेकिन दूसरे ही पहल सोचा कि क्यों न उन्हें अब अपने देश में भारतीयों के खिलाफ हो रहे जुल्म के खिलाफ लड़ना चाहिए।'

गांधी अहिंसक थे, पर पलायनवादी नहीं थे। उन्होंने दूसरा विकल्प चुना। वे दक्षिण अफ्रीका में रुके और फिर भारतीयों के वैधानिक अधिकार के लिए योजनाबद्ध तरह से लड़ाई लड़ी। अहिंसक और सिविल नाफरमानी की ताक़त दुनिया ने देखी। हिंसक दमन के खिलाफ अहिंसक दृढ़ इच्छाशक्ति अधिक कारगर हुई।

रंगभेद और नस्लभेद पर गांधी का यह पहला प्रहार था। अंग्रेज यह समझ ही नहीं पाते थे कि उनका किस तरह की शख्सियत से पाला पड़ा है। यह मोहनदास करमचंद गांधी से महात्मा और राष्ट्रपिता गांधी बनने की ओर की पहली घटना थी। उसी रात दक्षिण अफ्रीका के पीटरमारिट्जबर्ग में गांधी के सत्याग्रह की नींव पड़ चुकी थी पर तब उन्हें शायद ही यह अंदाजा रहा हो कि सविनय अवज्ञा आंदोलन की यह अजीबोगरीब शुरुआत एक दिन, अंग्रेजी सत्ता की चूलें हिला कर रख देगी। इतिहास ऐसी ही किसी अनजान सी घटना से बदलने लगता है।

ट्रेन की यह घटना उनके लिए रंगभेदी अनुभव की पहली घटना नहीं थी। बल्कि, दक्षिण अफ्रीका में ही गांधी जी को एक बार घोड़ागाड़ी में अंग्रेज यात्री के लिए सीट नहीं छोड़ने पर पायदान पर बैठकर यात्रा करनी पड़ी थी। यही नहीं, घोड़ागाड़ी हांकने वाले ने उन्हें मारा पीटा भी था। दक्षिण अफ्रीका के कई होटलों में रंग के आधार पर उनका प्रवेश वर्जित किया गया। उस जुल्मत भरी रात को उन्हें यह सब नस्लभेदी जुल्म याद आते रहे। मन इनका समाधान ढूंढता रहा। गीता पर अगाध आस्था रखने वाले गांधी को समाधान भी गीता से ही मिला। *न च दैन्यम न पलायनम।* उन्होंने न दीनता दिखाई और न ही वहां से भागे। यहीं से उन्होंने आंदोलन के बीज बो दिए।

उस दिन के बाद से 1915 तक, जब तक गांधी जी भारत नहीं लौटे तब तक, दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ नागरिक अधिकारों के लिये वे लड़ते रहे। यह आंदोलन राजनीतिक तो था ही, साथ ही सामाजिक भी था। टॉलस्टॉय से प्रभावित गांधी ने टॉलस्टॉय फार्म की स्थापना 1910 में की। गांधी 1884 में प्रकाशित टॉलस्टॉय की किताब, द किंगडम ऑफ गॉड इज विदिन यू, जो मानव के अहिंसक मूल्यों पर आधारित है, से बहुत ही प्रभावित थे। इसी की तर्ज पर गांधी जी ने साबरमती आश्रम की स्थापना की, जो आगे चल कर स्वाधीनता संग्राम का मुख्य तीर्थ बन गया।

गांधी जी की विचारधारा और आज़ादी पाने के उनके तौर तरीकों की आलोचना, न केवल उनके जीवन काल में होती थी, बल्कि अब भी होती है। अक्सर यह भी कहा जाता है कि चरखे से आज़ादी नहीं आयी। यह वाक्य वे लोग अधिक कहते हैं, जो भगत सिंह के धुर वैचारिक विरोधी खेमे के हैं और जिनका स्वाधीनता संग्राम

में योगदान ढूंढे नहीं मिलता है। पर वे यह भूल जाते हैं कि गांधी का स्वाधीनता संग्राम में सबसे बड़ा योगदान यह था कि उन्होंने साम्राज्य और श्रेष्ठतावाद के भय, जो सत्ता अक्सर जनता के बीच बोती रहती है, को जन गण मन के बीच से निकाल कर फेंक दिया। निहत्थे लोगों ने साम्राज्य की ताकत से डरना छोड़ दिया। जनता को निर्भीकता से खड़े होने की प्रेरणा गांधी के अहिंसक और सत्याग्रह आंदोलन से मिली। इसे यूरोपीय फासिस्ट राष्ट्रवाद के चश्मे से देखेंगे तो कभी समझ नहीं पाएंगे।

जनरल स्मट्स जो दक्षिण अफ्रीका का गवर्नर था, से गांधी जब दक्षिण अफ्रीका छोड़ कर भारत आने के पहले मिलने जाते हैं तो उस रोचक मुलाकात का जो विवरण मिलता है उसके अनुसार, गांधी जी ने स्मट्स से उन असुविधाओं के लिए अफसोस जताया, जो स्मट्स को गांधी जी के आंदोलनों के कारण झेलनी पड़ी थी। गांधी जी की इस निर्मल सदाशयता ने जनरल स्मट्स को अवाक कर दिया। अपनी प्रतिद्वंद्विता में दोनों एक-दूसरे के दबे-छिपे प्रशंसक भी बन गए थे। जब गांधीजी सन 1915 में भारत लौटे, तो स्मट्स ने अपने एक मित्र को लिखा कि 'संत हमारे देश से चले गए हैं और मुझे उम्मीद है कि वह लौटकर नहीं आएंगे।'

गांधी का देश की जनता पर जादुई प्रभाव था। यह प्रभाव उनके जीवनकाल में कभी भी कम नहीं हुआ और आज भी गांधी का करिश्मा कायम है। इस जादुई प्रभाव और मानव मन में गांधी जी की इस अनोखी पैठ का किसी इतिहासकार को मनोवैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिए। यह एक दिलचस्प अध्ययन होगा। गांधी को स्वीकार करें या अस्वीकार, पर गांधी को जब जब भी अप्रासंगिक बनाने की कवायद की जाती है तो वह अपनी दुगुनी शक्ति से अवतरित हो जाते हैं।

अपने अधिकार के प्रति सजग और सचेत रहना, अन्याय का सतत विरोध और निर्भीकता जैसे उच्च मानवीय गुणों को बनाये रख कर ही हम किसी भी अहंकारी और तानाशाही ताक़त का मुकाबला कर सकते हैं। गांधी के जीवन से हम यह मंत्र सीख सकते हैं। **-संकलित**

टंट्या भील
एक योद्धा, जिसे अंग्रेज़ों ने 'इंडियन रॉबिन हुड' नाम दिया

❑ **महिपाल सिंह बिष्ट**

भारतीय इतिहास में एक से बढ़कर एक योद्धा हुए हैं. देश की ख़ातिर इन क्रांतिकारियों ने अपने प्राण तक न्योछावर कर दिये. 1857 की क्रांति के पहले से लेकर देश की आज़ादी तक, कई क्रांतिकारियों ने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ अपने अपने तरीके से जंग लड़ी थी. देश की आजादी के लिए अंग्रेज़ों से जंग लड़ने वाले इन क्रांतिकारियों के बीच एक क्रांतिकारी 'टंट्या भील' भी थे.

कौन थे टंट्या भील?

टंट्या भील का जन्म 1840 के क़रीब मध्य प्रदेश के खंडवा में हुआ था. टंट्या भील का असली नाम 'टण्ड्रा भील' था. वे एक ऐसे योद्धा थे, जिसकी वीरता को देखते हुए अंग्रेज़ों ने उन्हें 'इंडियन रॉबिन हुड' नाम दिया था. देश की आजादी के जननायक और आदिवासियों के हीरो टंट्या भील की वीरता और अदम्य साहस से प्रभावित होकर तात्या टोपे ने उन्हें 'गुरिल्ला युद्ध' में पारंगत बनाया था.

वे 'भील जनजाति' के एक ऐसे योद्धा थे, जो अंग्रेज़ों को लूटकर ग़रीबों की भूख मिटाने का काम करते थे. टंट्या ने ग़रीबों पर अंग्रेज़ों की शोषण नीति के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई थी, जिसके चलते वे ग़रीब आदिवासियों के लिए मसीहा बनकर उभरे. आज भी मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ के कई आदिवासी घरों में टंट्या भील की पूजा की जाती है.

टंट्या भील केवल वीरता के लिए ही नहीं, बल्कि सामाजिक कार्यों में बढ़ चढ़कर हिस्सा लेने के लिए भी जाने जाते थे. उन्होंने ग़रीबी-अमीरी का भेद हटाने के लिए हर स्तर पर कई प्रयास किए थे. इसलिए वे आदिवासी समुदाय के बीच 'मामा' के रूप में भी जाने जाने लगे. आज भील जनजाति के लोग उन्हें 'टंट्या मामा' कहकर गौरव महसूस करते हैं.

विद्रोही तेवर से मिली थी पहचान

टंट्या भील को उनके विद्रोही तेवर के चलते कम समय में ही बड़ी पहचान मिल गयी थी. टंट्या का स्वभाव उनके नाम की तरह ही था, जिसका शब्दार्थ 'झगड़ा' होता है. अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ विद्रोह करने के बावजूद 'टंट्या मामा' के कारनामों के चलते अंग्रेज़ों ने ही उन्हें 'इंडियन रॉबिन हुड' नाम दिया था.

'गुरिल्ला युद्ध' नीति में माहिर

आदिवासियों के विद्रोहों की शुरुआत प्लासी युद्ध (1757) के ठीक बाद ही शुरू हो गई थी और ये संघर्ष 20वीं सदी की शुरुआत तक चलता रहा. सन 1857 से लेकर 1889 तक टंट्या भील ने अंग्रेज़ों की नाक में दम कर रखा था. वे अपनी 'गुरिल्ला युद्ध नीति' के तहत अंग्रेज़ों पर हमला करके किसी परिंदे की तरह ओझल हो जाते थे.

टंट्या को प्राप्त थीं आलौकिक शक्तियां!

टंट्या भील के बारे में कहा जाता है कि उन्हें आलौकिक शक्तियां प्राप्त थीं. इन्हीं शक्तियों के सहारे टंट्या एक ही समय में 1700 गांवों में सभाएं करते थे. टंट्या की इन शक्तियों के कारण अंग्रेज़ों के 2000 सैनिक भी उन्हें पकड़ नहीं पाते थे. टंट्या देखते ही देखते अंग्रेज़ों की आंखों के सामने से ओझल हो जाते थे. इसके अलावा उन्हें सभी तरह के जानवरों की भाषाएं भी आती थीं. आख़िरकार कुछ लोगों की मिलीभगत के कारण वे अंग्रेज़ों की पकड़ में आ गए और 4 दिसम्बर 1889 को उन्हें फांसी दे दी गई. फांसी के बाद अंग्रेज़ों ने 'टंट्या मामा' के शव को इंदौर के निकट खंडवा रेल मार्ग पर स्थित पातालपानी (कालापानी) रेलवे स्टेशन के पास ले जाकर फेंक दिया था.

इसी जगह को 'टंट्या मामा' का समाधि स्थल माना जाता है. आज भी सभी रेल चालक पातालपानी पर 'टंट्या मामा' को सलामी देने कुछ क्षण के लिए ट्रेन रोकते हैं. मध्य प्रदेश के इस हीरो 'टंट्या मामा' के जीवन पर आधारित एक फ़िल्म 'टंट्या भील' भी बन चुकी है. ❑

घृणा और हिंसा के प्रति समाज के रवैये से उसकी सभ्यता का स्तर मालूम होता है

❑ अपूर्वानंद

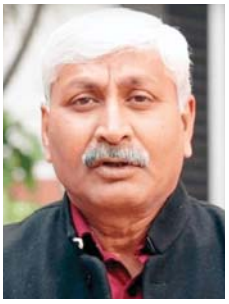

मुसलमानों के ख़िलाफ़ हिंसा सिर्फ भारत में नहीं है. यह एक प्रकार की विश्वव्यापी बीमारी है और यह कनाडा में भी पाई जाती है. लेकिन इस हिंसा पर समाज, सरकार और पुलिस की प्रतिक्रिया क्या है, कनाडा और भारत में यही तुलना का संदर्भ है.

6 जून को कनाडा के ओंटारियो प्रदेश के लंदन शहर में एक 20 साल के कनाडावासी ने पाकिस्तानी मूल के एक परिवार के पांच लोगों पर अपनी गाड़ी चढ़ाकर उन्हें कुचल दिया. चार की मौत हो गई, एक मात्र जीवित बचा नौ साल का बच्चा अस्पताल में मौत से जूझ रहा है.

भारत में इस तरह की घटना नई नहीं है. गाज़ियाबाद, बुलंदशहर, उन्नाव,मथुरा, सोहना, और भी कितने नाम होंगे शहरों, कस्बों और गांवों के, जहां मुसलमानों को मारा गया है या उनके खिलाफ हिंसा की गई है।

हिंसा हर जगह है. वह कनाडा में है और भारत में भी है. भारत को हीन महसूस नहीं करना चाहिए कि यहां मुसलमानों और ईसाइयों पर हमले होते रहते हैं और उनकी हत्या भी की जाती रही है. कनाडा जैसे शिक्षित मुल्क में भी होता है.

हिंसा के मामले में हम भारतीय कोई अतुलनीय नहीं हैं. मुसलमानों के खिलाफ हिंसा सिर्फ भारत में नहीं है. यह एक प्रकार की विश्वव्यापी बीमारी है. कनाडा में भी यह पाई जाती है. इस हत्याकांड के बाद कनाडा के मेरे मुसलमान मित्रों ने मुझे लिखा, बुरे और हिंसक लोग हर जगह होते हैं. वे भारत में ही नहीं, कनाडा, फ्रांस, अमेरिका में भी होंगे. असली तुलना इसके बाद शुरू होती है.

इस हिंसा पर समाज की, सरकार की, पुलिस की प्रतिक्रिया क्या है, कनाडा में और भारत में, यही तुलना का संदर्भ बनता है. मेरे मित्र ने टोरोंटो से लिखा, 'क़ानून यहां बहुत तेजी से काम करता है, दोषी तुरत पकड़ा जाता है और उस पर कानून की सारी सख्त धाराएं लगाई जाती हैं और अगर वह विक्षिप्त नहीं हुआ तो उसे मुनासिब सजा होना तय है.'

दूसरे मित्र ने लिखा, 'सरकार और प्रशासन के हर स्तर पर इस हिंसा को बहुत गंभीरता से लिया गया है.' 'सारे राजनीतिक दलों ने इसकी भर्त्सना की है,' मित्र लिखने वाले पहले मुसलमान हैं. वे इस भयानक हत्याकांड के बाद जिसमें तकरीबन पूरा परिवार मार डाला गया, अपनी सरकार और गैर मुस्लिम कनाडावासियों पर अपना भरोसा जता रहे हैं.

घटना स्थल पर श्रद्धांजलि देते हुए कनाडा के प्रधानमंत्री जस्टिन ट्रूडो

हां! हर जगह ऐसे लोग होंगे, जिनके दिमाग में एक अतार्किक हिंसा होगी, जो शैतान होंगे, लेकिन समाज तो उसे किसी तरह बर्दाश्त नहीं करता. सरकार, प्रशासन और पुलिस उसके खिलाफ फौरन सक्रिय हो जाती है.

इस एक हमले के बाद कनाडा के प्रधानमंत्री जस्टिन ट्रूडो ने ज़रूरी समझा कि वे प्रेस के माध्यम से देशवासियों से बात करें. उन्होंने कहा कि यह दिल तोड़ देने वाली वारदात है. एक परिवार खत्म हो गया है. उन्होंने इस हिंसा पर लीपापोती नहीं की.

उन्होंने कहा कि यह मुसलमान विरोधी घृणा से प्रेरित हिंसा है. उन्होंने स्वीकार किया कि कनाडा में घृणा जीवित है. मुसलमान विरोधी घृणा देश में है. प्रधानमंत्री ने कहा कि घृणा के नतीजे होते हैं. अगर वह दिमाग में हो तो बाहर भी निकलती है.

कनाडा के प्रधानमंत्री ने हिंसा को सामान्य हिंसा नहीं कहा. उन्होंने उसे उसका सही नाम दिया और देशवासियों को सावधान किया कि उन्हें इसे पहचानना और इसके खिलाफ सक्रिय होना चाहिए.

कनाडा के प्रधानमंत्री के शब्द हैं, 'उन्हें जघन्य, कायराना तरीके से और ढिठाई से मार डाला गया. यह हत्या कोई दुर्घटना नहीं है. यह हमारे समुदायों में से ही एक के दिल में पल रही हिंसा के कारण किया गया आतंकवादी कृत्य है.'

कंज़र्वेटिव पार्टी समेत दूसरे दलों के नेताओं ने भी कहा कि यह किसी भी लिहाज से आतंकवादी कृत्य से कम नहीं. कंज़र्वेटिव नेता ने अफ़सोस जाहिर किया कि कोविड महामारी ने समाज में विभाजन और बढ़ाया है. उन्होंने कहा कि पुलिस को चेताया गया था कि देश में घृणा आधारित हिंसा, हिंसक अतिवाद और मुसलमान विरोधी घृणा और असहिष्णुता बढ़ रही है.

ध्यान दीजिए, तकरीबन हर नेता, शासक दल के भी और विरोधी भी, ने इस हत्या को आतंकवादी हिंसा करार दिया. वह भी तब, जब हत्या का अभियुक्त सिर्फ 20 वर्ष का एक ईसाई, श्वेत कनाडावासी है, जो वहां के बहुसंख्यक समुदाय का सदस्य है.

इसके साथ ही जस्टिन ट्रूडो ने कहा कि

एक समुदाय शोक में है, गुस्से में है. हम कहना चाहते हैं कि आपके पड़ोसी आपके साथ हैं. हर कनाडावासी एक दूसरे को थामे हुए है.

कनाडा के अखबारों में तस्वीरें हैं कि हत्याकांड स्थल पर आकर लोग फूल रख रहे हैं. बच्चियां, माएं , पिता, दादा, नानी, श्वेत, अश्वेत, ईसाई, अरब, पाकिस्तानी, भारतीय, हिंदू, मुसलमान, यहूदी, हर मूल के कनाडावासी हैं. लोग सिर झुकाकर खड़े हैं.

उनमें से शायद ही कोई इस परिवार को जानता हो. लेकिन कनाडा के लोग इस पर अपना शोक, अपना क्षोभ दर्ज कर रहे हैं. वे यह बताना चाहते हैं कि वे हत्यारे के साथ नहीं हैं. वे इस घृणा में शामिल नहीं है. लेकिन वे उसके कृत्य के लिए शर्मिंदा हैं, क्योंकि एक तरह से वह उनके बीच का ही है.

अब तक कोई बयान नहीं देखा, जिसमें इस हत्या के लिए कोई बहाना खोजा गया हो. किसी ने भी मारे गए लोगों के बाहरी होने और उनके पाकिस्तानी मूल के मुसलमान होने के कारण हत्या को जायज़ नहीं ठहराया है. किसी ने यह नहीं कहा कि इसे क्यों आतंकवादी हिंसा कहा जा रहा है.किसी ने यह आरोप नहीं लगाया कि इसे आतंकवादी हिंसा कहने वाले कनाडा को बदनाम कर रहे हैं.

कनाडा में भी हिंसा है, घृणा है लेकिन एक सामाजिक सहमति है इस घृणा के खिलाफ. वहां राजनीति, किसी प्रकार की घृणा को सहलाती नहीं है. कानून का पालन करने वाली संस्थाएं ऐसे मामलों में नरमी नहीं दिखलाती हैं.

वहीं कनाडा से जब हम अपनी निगाह भारत की ओर घुमाते हैं, तो बिल्कुल उल्टा नज़ारा देखने को मिलता है. 2 जून, 2014 को पुणे में एक नौजवान मोहसिन शेख अपने दोस्त के साथ सड़क पर था. अचानक उसे घेरकर उस पर बुरी तरह हमला किया जाता है और उसे मार डाला जाता है. हमलावर की हिंसा के लिए अदालत तर्क खोजती है—'वह बेचारा मोहसिन शेख के पहनावे से उत्तेजित हो गया.' उसने उत्तेजना के कारण मोहसिन पर हमला किया.

अदालत हत्यारे को अपनी उत्तेजना के आगे बेबस पाकर उस पर रहम करती है और उसे जमानत दे देती है. जिसकी हत्या हुई, उसकी शक्ल सूरत, उसके पहनावे ने ही उसके हत्यारे में हिंसा पैदा की. वह बेचारा क्या करता? बस! उसने मोहसिन को मार डाला!

फिर शहर में उसके स्वागत में जुलूस निकाला जाता है. फिर तो भारत में यह सिलसिला बन जाता है. गुजरात, कर्नाटक, उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखंड, हरियाणा, दिल्ली, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हर कुछ दिन पर मुसलमानों पर हमले और उनकी हत्या की खबरें आने लगती हैं.

मई, 2014 में एक सरकार बनी. उसके दो रोज बाद मोहसिन शेख मारा गया. खुशी के मारे नारा लगाया गया, 'पहला विकेट डाउन!'

हमारे शासक दल की प्रतिक्रिया? प्रधानमंत्री की प्रतिक्रिया? पुलिस और अदालत की प्रतिक्रिया? बाकी राजनीतिक दलों की प्रतिक्रिया? समाज की प्रतिक्रिया? खासकर हिंदू समाज की प्रतिक्रिया? कहीं शोक, क्षोभ, लज्जा, पश्चाताप? मोहसिन के लिए उसके देशवासियों की तरफ से कोई फूल?

क्या भारत के मुसलमान कनाडा के मित्र शाहनवाज़ या हनीफ की तरह यह कह सकते हैं कि हां! नफरत है, बुरे लोग हैं, लेकिन हमारी सरकार, पुलिस इसे बर्दाश्त नहीं करती. हमारी अदालत में ऐसी हिंसा पर सबसे सख्त सज़ा होना तय है.

क्या उन्हें उनका मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री यह कह सकता है कि हम आपके दुख, गुस्से में शरीक हैं? क्या भारत के राजनीतिक दल यह कह सकते हैं कि ऐसी हिंसा आतंकवादी हिंसा ही है! उत्तर हम जानते हैं. कनाडा हो या न्यूजीलैंड, भारत अपनी तुलना इनसे नहीं कर सकता. ऐसी हिंसा को पहले पहचानना ज़रूरी है.

मारे गए परिवार की एक परिचित ने साफ़ शब्दों में कहा, 'ऐसी चीज़ें शून्य में नहीं होतीं. देश के नेताओं के बयानों से ध्रुवीकरण होता है और उसी के कारण यह मुस्लिम विरोधी घृणा फलती-फूलती है. राजनेताओं को जो वे कहते हैं, उसके लिए और उसका जो असर देश पर होता है, उसके लिए जिम्मेदारी लेनी चाहिए.'

कनाडा की संसद ने इस हत्याकांड पर शोक ज़ाहिर करने के लिए मौन धारण किया. प्रधानमंत्री ने संसद में वक्तव्य दिया और कहा कि छोटी छोटी हरकतें एक विकृत प्रवृत्ति में बदल जाती है। 'जो चुटकुले चलते हैं, वे कोई मज़ाक़ नहीं हैं. बेतकल्लुफाना नस्लवाद! छिपे हुए इशारे, जिनका मक़सद दूसरे को छोटा करना है. ज़हरीले भाषण, मिथ्या प्रचार और ऑनलाइन अतिवाद. हम अपने सार्वजनिक विचार-विमर्श और राजनीति में जो ध्रुवीकरण देखते हैं, वही इस तरह की हिंसा में परिणत होता है.' यह आत्मावलोकन की भाषा है. एक असल नेता की, जो सबको अपने भीतर झांककर इस घृणा का स्रोत पहचानने को कह रहा है.

ज़ाहिर है, ऐसे सारे हत्याकांड रोके नहीं जा सकते. फिर भी मुसलमानों को इसकी तसल्ली तो है कि देश उन्हें अपना मानता है, उनकी आशंका देश की आशंका है और वह उनके खिलाफ़ किसी हिंसा को लापरवाही से नहीं लेता. उन पर हमला करने वाले को कोई समुदाय, कोई राजनीतिक दल अपनाने को तैयार नहीं. यह एक बड़ा आश्वासन है कि घृणा प्रचारक या घृणा की हिंसा का कोई पैरोकार नहीं है.

घृणा और हिंसा के प्रति राष्ट्र या समाज के रवैए से उसकी सभ्यता का स्तर मालूम होता है. अपने बारे में उसका खयाल ज़ाहिर होता है.

कनाडा क्या है, क्या होना चाहता है, यह इस हत्याकांड के बाद कनाडा के बहुसंख्यक ईसाई समाज, उसके राजनीतिक दलों और प्रशासन की प्रतिक्रिया से ज़ाहिर है. क्या हम इसे तुलना लायक़ मानते हैं या इसका जिक्र करने वाले को जेल में डाल देना चाहते हैं? ❑

फ्रांस में राफेल सौदे की जांच!

सन्देह के आधार और सौदे की क्रोनोलॉजी

❑ विजय शंकर सिंह

राफेल मामले में कथित भ्रष्टाचार के आरोप पर फ्रांस की सरकार ने जांच के आदेश दिए हैं। यह जांच मीडियापार्ट मैगजीन में राफेल सौदे पर हुए भ्रष्टाचार के आरोपों के संबंध में छपे कुछ खुलासे के बाद शुरू की जा रही है।

राफेल सौदे के बारे में आरोप है कि इस मामले में राफेल बनाने वाली दसाल्ट कंपनी ने अपने विमान को बेचने के लिए रिश्वत दी है। अनिल अंबानी और उनकी नयी-नयी बनी कंपनी, जो इस सौदे के कुछ ही हफ्ते पहले बनी थी, को प्रधानमंत्री नरेंद मोदी के कहने पर भारत के सार्वजनिक उपक्रम एचएएल (हिंदुस्तान एयरोनॉटिक्स लिमिटेड) को सौदे से हटा कर, इस सौदे का ऑफसेट कॉन्ट्रैक्ट देने की बात फ्रांस में उठी थी।

यह भी कहा गया है कि फ्रांस के पूर्व राष्ट्रपति हॉलैंड ने यह कहा था कि 'अनिल अंबानी को उक्त ठेका देने के लिए भारत के प्रधानमंत्री ने कहा था।' इसी बीच खोजी अखबार मीडियापार्ट की इस मसले से जुड़ी खुलासा सीरीज के कारण, फ्रांस के राजनीतिक हलकों में भी इस सौदे को लेकर आरोपों और प्रत्यारोपों का दौर चला, जिसकी परिणति इस मामले में अब इस जांच के आदेश के रूप में हुई है।

राफेल सौदे में कुछ ऐसे बिंदु हैं, जो इस सौदे में शक की सुई घोटाले के आरोप की ओर ले जाते हैं। विभिन्न मीडिया रिपोर्ट्स और राफेल मामले में सरकार या प्रधानमंत्री की भूमिका के बारे में कहे और लिखे गए अनेक लेखों और बयानों के आधार पर कुछ महत्वपूर्ण बिंदु दृष्टव्य हैं, जिनसे घोटाले का शक उभरता है। संदेह के बिंदु तब उपजते हैं, जब नियमों का पालन किए बगैर, मान्य और स्थापित कानून तथा परम्पराओं को दरकिनार कर के, कोई मनमाना निर्णय ले लिया जाता है और किसी को या बहुत से लोगों को अनुचित लाभ पहुंचाया जाता है। यहां भी अनुचित लाभ पहुंचाने के कदाशय को ही घोटाले के अपराध का मुख्य बिंदु माना गया है।

इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय में राफेल सौदे के मामले में जांच की मांग को लेकर याचिका दायर करने वाले सर्वोच्च न्यायालय के एडवोकेट प्रशांत भूषण, पूर्व केंद्रीय मंत्री यशवंत सिन्हा और प्रसिद्ध पत्रकार अरुण शौरी का कहना है कि राफेल विमान सौदे में केंद्र सरकार ने जानबूझकर अनिल अंबानी को लाभ पहुंचाने के लिए, दसॉल्ट कंपनी पर दबाव डाला। बाद में जब फ्रांस के पूर्व राष्ट्रपति का इसी आशय का बयान आया तो उसकी प्रतिक्रिया भारत में भी हुई।

बोफोर्स घोटाला, रक्षा सौदों में अब तक का सबसे चर्चित घोटाला रहा है। हालांकि 1948 में ही रक्षा से जुड़ा जीप घोटाला सामने आ चुका था, पर बोफोर्स घोटाले के आरोप ने भारतीय राजनीति की दशा और दिशा दोनों ही बदल दी। इस घोटाले के बाद ही सरकारें सतर्क हो गयीं और उसके बाद आने वाली सरकारों ने रक्षा सौदों के लिए बेहद पारदर्शी प्रक्रिया और नियम बनाये, जिसके अंतर्गत सेना, रक्षा मंत्रालय, संसदीय समिति और सरकार, सभी की सहमति से ही रक्षा से संबंधित किसी प्रकार का कोई समझौता हो सकता है। सबकी स्पष्ट और उपयुक्त भागीदारी के साथ साथ पारदर्शिता को इन रक्षा सौदों के लिए अनिवार्य तत्व माना गया है। लेकिन मौजूदा नरेंद्र मोदी सरकार ने जब राफेल के सम्बंध में समझौता किया तो इन नियमों और प्रक्रियाओं का पालन नहीं किया।

रक्षा सौदों के प्रारंभिक नियमों और प्रक्रिया के अनुसार, किसी भी रक्षा खरीद का फैसला भारतीय सेनाओं की मांग के आधार पर शुरू होता है। राफेल खरीद के मामले की शुरुआत भी वायुसेना द्वारा 126 विमानों की आवश्यकता और उससे जुड़े मांगपत्र से हुई थी। यूपीए की मनमोहन सिंह सरकार ने इसी आधार पर अपनी बातचीत शुरू की थी। लेकिन उसके बाद आने वाली एनडीए की नरेंद्र मोदी सरकार ने 126 विमानों की आवश्यकता को घटा कर मात्र 36 विमानों का सौदा फाइनल किया। इस बदलाव पर यह आरोप लगता है कि वायुसेना की जरूरतों को नजरअंदाज करके उसे मजबूत बनाने की जगह उसकी मूल मांग 126 लड़ाकू विमानों की उपेक्षा

की गयी। वायुसेना ने कभी नहीं कहा कि उसे 126 की जगह अब केवल 36 ही विमान चाहिए, जबकि सेना की मांग ही रक्षा सौदे का मुख्य आधार बनती है। सेना अपनी आवश्यकताओं को घटा बढ़ा सकती है। पर इस जोड़ घटाने का भी कोई न कोई तर्क और आधार होना चाहिए। वायुसेना ने 126 से अपनी ज़रूरतों को कैसे 36 तक सीमित कर दिया, इस पर न तो वायुसेना ने कभी कोई उत्तर दिया और न ही रक्षा मंत्रालय ने।

यूपीए सरकार ने दसॉल्ट कंपनी से वायुसेना के लिए 126 राफेल विमानों के साथ उनके तकनीकी हस्तांतरण के लिए ट्रांसफर ऑफ टेक्नोलॉजी की शर्त भी रखी थी, जिसके तहत यह तकनीक यदि भारत को मिल जाती तो यह विमान भविष्य में स्वदेश में ही बनता, लेकिन नरेन्द्र मोदी सरकार में जो सौदा हुआ है, उसमें ट्रान्सफर ऑफ टेक्नोलॉजी की शर्त ही हटा दी गई है।

सरकार या प्रधानमंत्री ने अपने स्तर पर सौदे में जो बदलाव किये, उन्हें कैटेगराइजेशन कमेटी के पास अनुमोदन के लिए नहीं भेजा गया। कैटेगराइजेशन कम डिफेंस एक्यूजीशन कॉउंसिल में रक्षा मंत्री, वित्तमंत्री और तीनों सेनाओं के प्रमुख होते हैं, जो किसी भी प्रस्तावित प्रस्ताव परिवर्तन का परीक्षण करके उसे प्रधानमंत्री के पास भेजते हैं। लेकिन इस मामले में यह प्रक्रिया नहीं अपनाई गयी। बिना कैटेगराइजेशन कम डिफेंस एक्यूजेशन काउंसिल की सहमति के लिया गया यह फैसला स्थापित प्रक्रिया का उल्लंघन है।

अचानक, इस सौदे में जो बदलाव हुआ उससे यह आभास होता है कि इस सौदे के बारे में अंतिम समय तक फ्रांस के राष्ट्रपति, भारत के रक्षा मंत्री और वायुसेना व भारतीय रक्षा समितियों को कुछ भी पता नहीं था. जबकि इन सबकी जानकारी में ही यह सब परिवर्तन होना चाहिए था।

समझौते के ठीक पहले मार्च, 2015 में दसॉल्ट के सीईओ एलेक्ट्रैपियर कहते हैं कि हम हिंदुस्तान एयरोनॉटिक्स लिमिटेड (HAL) के साथ मैन्युफैक्चरिंग का काम करने जा रहे हैं। एचएएल की बेंगलुरू इकाई में यह सब बातें प्रेस के सामने आती हैं। जब पीएम मोदी इस समझौते के लिए फ्रांस जा रहे थे तो उसके पहले विदेश सचिव एस जयशंकर, जो अब विदेश मंत्री हैं, ने अपने बयान में कहा कि 'मोदी जी फ्रांस जा रहे हैं, वे वहां पर 126 राफेल विमान खरीद की वार्ता को आगे बढ़ाएंगे।'

यानी तब तक इस सौदे में परिवर्तन की कोई भनक तक उन्हें नहीं थी। जिस दिन मोदी जी वहां पहुंचे, उस दिन फ्रांस के राष्ट्रपति हॉलैंड ने कहा कि 126 राफेल की डील पर हमारी बात आगे बढ़ेगी। फिर उसी दिन अचानक 36 विमानों पर यह सौदा भारत और फ्रेंच कंपनी दसॉल्ट के बीच पूरी हो गया। अचानक इस सौदे में अनिल अंबानी का प्रवेश हो गया और एलएएल, जिसके साथ यह करार लगभग तय हो गया था, को पीछे हटा दिया गया। इस तरह देश की सुरक्षा एजेंसियों से लेकर रक्षा और वित्त मंत्री तथा दूसरे पक्ष को भी इस सौदा परिवर्तन की भनक तक नहीं लगी। यही मुख्य आरोप है कि यह सब एक निजी कंपनी को अनुचित लाभ पहुंचाने के उद्देश्य से किया गया।

देश की 78 साल पुरानी सार्वजनिक उपक्रम कंपनी, एचएएल को हटाकर अनिल अंबानी की कंपनी को नए सौदे में आफसेट कॉन्ट्रैक्ट दे दिया गया। आरोप है कि अनिल अंबानी की यह कंपनी सौदे के मात्र दस दिन पहले बनाई गई। इस तरह एक नितांत नयी कंपनी को इतने महत्वपूर्ण सौदे में शामिल कर लिया गया, जिसका रक्षा क्षेत्र में कोई अनुभव ही नहीं है।

अनिल अंबानी की रिलायंस इस सौदे में ऑफसेट कॉन्ट्रैक्ट के नाम पर शामिल हुई। इस डील में ऑफसेट ठेके की राशि है 30 हज़ार करोड़, जिसका एक बड़ा हिस्सा रिलायंस को मिलेगा। यह बात दसॉल्ट और रिलायंस ने सार्वजनिक की, न कि भारत सरकार ने। सरकार ने यह तथ्य क्यों छुपाया? अनिल अंबानी के प्रवेश के सवाल पर सरकार ने कहा कि अंबानी से पहले से बातचीत चल रही थी, लेकिन यह कंपनी तो सौदे के मात्र दस दिन पहले ही बनी है, फिर बातचीत किससे चल रही थी?

प्रधानमंत्री ने समझौते के बाद कहा था कि विमान ठीक उसी कॉन्फ़िगरेशन में आएंगे, जैसा पुराने समझौते के तहत आने वाले थे। लेकिन नये समझौते में 670 करोड़ का विमान 1600 करोड़ से ज़्यादा कीमत का हो गया। इस पर यह सवाल उठने लगे कि विमानों की कीमत क्यों तीन गुनी हो गयी, तो बाद में तत्कालीन केंद्रीय मंत्री अरुण जेटली ने 'पे इंडिया स्पेसिफिक ऐड ऑन' की बात कहकर बढ़े दाम को जायज ठहराया। इस पर यह आरोप लगा कि सरकार ने ऐसा करके जनता को गुमराह किया है। सरकार ने अब तक इसका कोई तार्किक जवाब नहीं दिया है।

राफेल के दाम बढ़ने घटने की बात पर सरकार ने जितनी बार बयान दिए, वे सब अलग-अलग तरह के हैं, जो स्थिति साफ करने के बजाय उसे और उलझा देते हैं। कहा गया कि इंडिया स्पेसिफिक ऐड ऑन के तहत विमानों में 500 करोड़ के हेलमेट लगाने की बात जोड़ी गई, इसलिए दाम बढ़ गए। फिर सवाल उठता है कि इसकी अनुमति किससे ली गई?

सबसे आपत्तिजनक और हैरान करने वाला कदम यह है कि इस समझौते से बैंक गारंटी, संप्रभुता गारंटी और एंटी करप्शन से जुड़े अनेक महत्वपूर्ण प्रावधानों को हटा दिया गया है। इंटीग्रिटी पैक्ट पर सहमति और हस्ताक्षर न करके देश की संप्रभुता से भी समझौता किया गया। राफेल डील से एंटी करप्शन प्रावधानों को हटा देने से भ्रष्टाचार के प्रति संदेह स्वतः उपजता है।

द हिंदू में छपी खबरों के अनुसार नरेन्द्र मोदी सरकार में 36 रफालों की कीमत, पहले की तय कीमतों से 41 प्रतिशत अधिक है। इसके अलावा बैंक गारंटी की शर्त हटा देने की वजह से राफेल की कीमतें और बढ़ गईं। रक्षा मंत्रालय के दस्तावेजों से ये तथ्य भी सामने आए कि रक्षा मंत्रालय के विरोध के बावजूद प्रधानमंत्री ने अपने स्तर पर बातचीत करके इस सौदे को अंतिम रूप दिया, जो सभी नियमों

और तयशुदा प्रोसीजर सिस्टम का उल्लंघन है।

यह भी एक तथ्य सामने आया है कि इंडियन निगोसिएटिंग टीम (ऐसे सौदों में समझौता करने वाली समिति, जिसमें सेना, रक्षा मंत्रालय और वित्त मंत्रालय के बड़े अफसर रहते हैं) ने अपनी टिप्पणी में कहा था कि यूपीए सरकार के समय की शर्तें बेहतर थीं, लेकिन उन्हें दरकिनार कर दिया गया। तत्कालीन रक्षा सचिव ने भी इस सौदे में पीएमओ द्वारा सीधे हस्तक्षेप किये जाने पर आपत्ति जताई थी। इसके अतिरिक्त, प्राइस निगोसिएशन कमेटी (यह भी दाम पर बारगेनिंग करने और उसे तय करने के लिए एक औपचारिक वैधानिक प्रोसीजर के अंतर्गत गठित कमेटी होती है) के तीन विशेषज्ञों ने भी अपना तीखा विरोध जताया था कि सरकार ने बेंचमार्क प्राइस, जो पांच बिलियन यूरो था, उसे बढ़ाकर आठ बिलियन यूरो क्यों कर दिया?

इन आपत्तियों में यह भी कहा गया था कि नये सौदे में पिछले सौदे के मुकाबले विमानों की कीमत अधिक देनी पड़ रही है, इसलिए इसका टेंडर फिर से होना चाहिए। बिना टेंडर के गवर्नमेंट टू गवर्नमेंट रूट में तभी यह समझौता हो सकता था, अगर यह उसी दाम में या उससे कम दाम में होता। लेकिन सौदे में कीमतों में अंतर आ रहा है और वह कीमतें बढ़ रही हैं, अतः इस मूल्य बदलाव के बाद इस सौदे के संबंध में दोबारा टेंडर की प्रक्रिया की जानी चाहिए थी, जो नहीं अपनाई गई है।

जिस मामले में प्रधानमंत्री को अपने स्तर पर फैसला लेने का अधिकार ही नहीं था, उस संदर्भ में उन्होंने अपने स्तर से ही फैसला ले लिया, जिसके कारण, भारत सरकार की अनुभवी कंपनी एचएएल को नुकसान पहुंचा और निजी कंपनी को जानबूझकर लाभ पहुंचाया गया।

एक आरोप यह भी है कि अनिल अंबानी रक्षा से जुड़ा किसी भी तरह का निर्माण नहीं कर सकते, इसलिए उनकी मौजूदगी एक तरह से कमीशन एजेंट के तौर पर ही देखी जाएगी। एचएएल को यह दायित्व मेक इन इंडिया के अंतर्गत दिया जा सकता था। प्रशांत भूषण का मानना है कि कमीशन एजेंट के रूप में अनिल अंबानी की मौजूदगी की वजह से भी राफेल के दाम बढ़ाने पड़े।

राष्ट्रीय सुरक्षा का मामला गोपनीय होता है, लेकिन ऐसी कोई गोपनीयता नहीं होती, जिससे रक्षा मंत्रालय और संसद की रक्षा समितियां ही अनभिज्ञ हों।

डील से ठीक पहले फ्रांस के राष्ट्रपति हॉलैंड की प्रेमिका की फ़िल्म में अंबानी की कंपनी की ओर से 200 करोड़ का निवेश किया गया। इस खबर और रहस्योद्घाटन पर फ्रांस में भी बवाल मचा था और उसी के बाद मीडियापार्ट ने अपनी खोजी सीरीज शुरू की।

सरकार इस सौदे पर कुछ न कहने के पीछे, रक्षा मामलों में गोपनीयता का तर्क देती है और वह कहती है कि सीक्रेसी एग्रीमेंट के कारण सरकार कुछ सवालों के जवाब नहीं दे रही, लेकिन जितनी बयानबाजियां की गईं, उनसे यह स्पष्ट है कि सरकार के सामने किसी सीक्रेसी एक्ट को लेकर कोई बाधा नहीं है। इस प्रावधान की आड़ में सौदे पर उठने वाले संदेह के बिन्दुओं का सरकार जानबूझकर कोई समाधान नहीं कर रही है।

फ्रांस के राष्ट्रपति ने हाल ही में कहा था कि अगर भारत सरकार चाहे तो विपक्ष को ज़रूरी सूचनाएं दे सकती है, फिर सरकार इस समझौते में किस सीक्रेसी एक्ट का हवाला दे रही है?

द हिंदू के अनुसार, एक विसंगति यह भी है कि इस मामले में सर्वोच्च न्यायालय में पहली बार जब सुनवाई हुई, तब सरकार ने बंद लिफाफे में सर्वोच्च न्यायालय को गलत जानकारी दी और इस बंद लिफाफा रिपोर्ट पर किसी के दस्तखत नहीं हैं। यह भी एक न्यायिक विडंबना है कि अदालत ने बिना किसी सक्षम अधिकारी के दस्तखत के ही इस रिपोर्ट का संज्ञान ले लिया।

कोर्ट में सरकार ने बताया कि राफेल के दाम के बारे में कैग (CAG) की रिपोर्ट आ चुकी है। यह रिपोर्ट पीएसी (संसद की लोक लेखा समिति) को भेजी जा चुकी है, उस रिपोर्ट को पीएसी ने संसद में पेश कर दिया है और संसद ने उसे सार्वजनिक भी कर दिया है। साथ में यह भी बताया गया कि रिपोर्ट में राफेल के मूल्य का विवरण नहीं हैं। याचिकाकर्ता यशवंत सिन्हा, अरुण शौरी और प्रशांत भूषण के अनुसार, यह पांचों बातें झूठी थीं। न तो कैग ने कोई रिपोर्ट दी थी, न पीएसी को सौंपी गई थी, न संसद में गई, न सार्वजनिक हुई। अगर कैग रिपोर्ट में मूल्यों के विवरण नहीं हैं तो वह रिपोर्ट फिर किस बारे में थी? सरकार ने कोर्ट से कहा कि सारा निगोसिएशन सरकार की प्राइस निगोसिएशन कमेटी ने किया और सर्वसहमति से किया, जबकि खुद डिफेंस सेक्रेटरी ने पीएमओ के सीधा हस्तक्षेप पर अपनी आपत्ति जताई थी। यह सब बातें अभिलेखों में हैं।

सर्वोच्च न्यायालय के एडवोकेट प्रशांत भूषण के अनुसार, अब तक जितने रक्षा सौदे हुए, उस पर आई कैग रिपोर्ट में कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि उनमें सौदों की प्राइसिंग डिटेल्स न दी गयी हों। दूसरी बात, कैग अगर अधूरी रिपोर्ट पेश करे तो यह भी विधिविरुद्ध है। सर्वोच्च न्यायालय में सरकार के बयान के आधार पर यह भी सवाल उठे कि सरकार को पहले से यह कैसे पता था कि जो कैग रिपोर्ट आएगी, उसमें प्राइसिंग डिटेल्स नहीं होंगे? इन्हीं तथ्यों के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय ने रिव्यू पेटीशन स्वीकार की थी।

अदालत में मीडिया रिपोर्ट पेश किए जाने पर सरकार ने कहा कि ये रिपोर्ट चोरी के दस्तावेजों पर आधारित है, इसलिए इन पर विचार न किया जाए। अब सवाल उठता है कि अगर ये मीडिया रिपोर्ट रक्षा मंत्रालय के दस्तावेजों पर आधारित हैं, जो कथित तौर पर चोरी हो गए, तब तो इनकी सच्चाई संदेह से परे है, क्योंकि इन खबरों को मंत्रालय के ही दस्तावेजों के आधार पर लिखा गया था। अंतिम सूचना में सरकार की ओर से कहा गया कि दस्तावेज चोरी नहीं हुए, फोटोकॉपी चोरी हुई है. इस आधार पर भी आप यह मान सकते हैं कि द हिंदू में छपी एन राम की रिपोर्ट सरकारी तथ्यों पर आधारित है, न कि कल्पना या गप है। सन्देह के ये बिंदु अभी भी अनुत्तरित हैं और उनका समाधान होना आवश्यक है। ❑

तानाशाही का राष्ट्रवादी रंग बहुत मोहक होता है पार्टनर!

❑ देवेन्द्र आर्य

दरअसल विरोध जब चिढ़ौनी बन जाए या बना दिया जाए तो विकल्प की तलाश भटक रही आत्मा बन जाती है। सत्ता की क्षमता का प्रदर्शन ही इसमें है कि वह अपने विरुद्ध चल रहे विरोध को चिढ़ौनी बना दे।

हमारा विपक्ष पूरी तरह अविश्वसनीय और जनता की निगाह में अप्रासंगिक, सुविधाजीवी, भ्रष्ट और राष्ट्रीयता की भावना से च्युत, स्थापित किया जा चुका है। यह सरकार इस काम में पुरानी सरकारों से अधिक माहिर और सफल है कि उसने आपके तमाम जेन्युइन विरोधों को भी चिढ़ौनी बना दिया है।

भाषा और भंगिमा का इतना बेहतर इस्तेमाल आज तक कोई सरकार नहीं कर पायी है। किसी सरकार की वैचारिकी इतनी स्पष्ट नहीं रही, जितनी इस सरकार की है कि उसे क्या पाना है। अपने उद्देश्य के लिए दूरगामी और जमीनी तैयारी किसी पार्टी ने उतनी नहीं दिखाई, जितनी भाजपा ने। किसी ने सत्ता के लिए इतना लम्बा इंतज़ार नहीं किया है, जितना भाजपा ने। अपनी जनता, अपने वोटरों पर इतना विश्वास किसी पार्टी ने नहीं दिखाया है और न ही उसे विश्वास में लिया है। गलत, सही का फैसला सिर्फ़ हमीं नहीं करेंगे, और भी लोग हैं गलत, सही पर राय रखने वाले।

ज़ाहिर है इसका दूसरा पहलू यही है कि हमारा विरोध ही लचर, बेमानी भरा, बेमन का, ऊपर झापर वाला, आपसी गलाकाट और नकली है।

इतने बड़े मजदूर पलायन और उनकी प्रताड़ना के दौरान मजदूर के नाम पर राजनीति चमकाने वाले लोग कहीं नज़र नहीं आए। पूरा देश महामारी के बहाने लूटा जा रहा है, कोई पार्टी सड़क पर उतरने को तैयार नहीं है। ईडी और इन्कमटैक्स के छापे का इतना ख़ौफ़! तो क्या सच यही है कि पूर्ववर्ती सारी सरकारें भ्रष्ट और निकम्मी रही हैं और उनके लीडरान सर पर लटकती तलवार से खौफ़ज़दा हैं कि कहीं अंदर न कर दिए जाएं? कौन लालू यादव बनना चाहेगा? जो थोड़े पाक साफ़ हैं और खरीदी मीडिया के पप्पू प्रचार के बाद भी तने हैं, उन पर देश विरोध का प्रक्षेपास्त्र एक बटन की प्रतीक्षा में है।

चीन के बहाने उनके राष्ट्रवाद में सेंध लगाने की कोई तार्किक और सुनियोजित योजना किसी के पास नहीं है। सियासत आपको मौक़े देती है, पर आप उनका फ़ायदा न उठा पाएं तो अक्षमता किसकी है? पश्चिम बंगाल ने आपको फिर एक राह दिखाई है, देखना चाहें तब न!

वे ही मजदूर फिर वापस जा रहे हैं, जिनके लिए हम आठ आठ आंसू बहा रहे थे और उनसे उम्मीद लगाए थे कि यह लोग सत्ता व्यवस्था से बदला लेंगे। मंहगाई, बीमारी और इलाज के अभाव में हर परिवार तबाह है। शिक्षा और स्वास्थ्य पर कुठाराघात है। पर क्या गारंटी कि यह चुनावी मुद्दा बनेगा ही? और बना भी तो आपसी वोट कटान भाजपा को नुकसान पहुंचाएगा ही?

पता नहीं कि चुनाव तक आम जनता का ग़म और गुस्सा कितना पिघल चुका होगा, परंतु हम उनके ग़म और गुस्से में कितने साझीदार हुए? उनके लिए क्या किया? उन्हें अपनी तरफ़ लाने में क्यों असफल हैं?

कोरोना का डर सरकारी डर से हाथ मिलाता रहा। आज भी सड़क पर कौन है? सबसे ज्यादा परेशान वे ही दिखते हैं, जिनको मलाई चाटने की आदत रही है और अब लतिया कर किनारे कर दिए गए हैं।

इन सारी बातों का यह कतई मतलब नहीं कि हम भाजपा के साथ खड़े हैं, या उसकी ओर टुकड़े की आस लगाए बैठे हैं। अनावश्यक रूप से हम अपने ही लोगों पर तलवार भांज रहे हैं, अपने को अधिक वामपंथी जताने के लिए दूसरे को शक के दायरे में घसीट रहे हैं।

आपके पास एक मात्र जनतांत्रिक विकल्प चुनाव ही है। अपनी सीमा भी समझिए और अपनी ताक़त भी। अपने संवैधानिक अधिकार और चुनावी हथियार पर भरोसा रखिए, उसे आने वाले समय के लिए पहेटते रहिए। सोचिए कि जनता ने आपको क्यों ठुकराया और आप उसे कौन सी पट्टी पढ़ाएं कि वह उन्हें छोड़कर आपको चुन ले। है कोई तैयारी? अगर नहीं तो फिर तो साम्प्रदायिकता, तानाशाही, अडानी अम्बानी और एवीएम का झुनझुना ही बचता है। बजाइए।

इस सम्भावना पर भी नज़र रखिए कि प्रगतिशीलता और ग़ैर साम्प्रदायिकता के नाम पर बेमतलब ढेर शोर करियेगा तो 'पुतिन' वाला रास्ता भी अपनाया जा सकता है। वे सक्षम हैं।

राजनीति में ही नहीं, साहित्य में भी इतनी तमीज़ आवश्यक है कि क्या न बोला जाए और कब न बोला जाए। फालतू का बोलना उन्हें और चिढ़ाता है और आपको चिढ़ौनी बना देता है। गुस्सा होने से अधिक ज़रूरी है, गुस्से को बचा कर रखना। तानाशाही का एक ही रंग नहीं होता। तानाशाही का राष्ट्रवादी रंग बहुत मोहक होता है पार्टनर।

हमें हिंदुस्तान को कब्रिस्तान बनाने वाली सोच और उनके नुमाइंदों से टकराना ही होगा। जिनके धर्म, जिनकी आस्थाएं चूं चूं का मुरब्बा हैं, वे बेहतर है कि नास्तिक हो जाएं। उनका अपना ऊपर वाला, अब नीचे वालों के रहमोकरम पर जिंदा है, अगर वाक़ई है तो। अपनी अपनी सीलन खाई धराऊं किताबों के बाहर आओ इंसानों! वरना इंसान कहलाने लायक नहीं बचोगे। अपने भीतर के हिटलर से नफ़रत करना ही हिंदुस्तान को बचाने की बुनियाद है और हिन्दुस्तान को बचाने की बुनियाद बनाना ही भारत के भविष्य का निर्माण करना है। ❑

सोवियत संघ क्यों बिखरा?

अतीत से सबक लेने का समय

❑ सत्येंद्र रंजन

गुजरे तीन दशकों में सोवियत संघ के बिखराव पर असीमित चर्चा हुई है। उसमें पूंजीवादी देशों और तीसरी दुनिया में उनके पिछलग्गू शासक वर्ग की चर्चाओं को हम नजरअंदाज कर सकते हैं। लेकिन जिन लोगों की समाजवाद के आदर्शों और मूल्यों में आस्था अटूट रही है, उनके बीच सोवियत संघ के आखिरी वर्षों के अनुभव को लेकर हुए गहन विचार-विमर्श पर हमें जरूर गौर करना चाहिए।

बेशक, इस सिलसिले में जिन आर्थिक कारणों का उल्लेख हुआ है, वे महत्त्वपूर्ण हैं। उन पर हमें अवश्य ध्यान देना चाहिए। मसलन, यह कि समाजवादी निर्माण के शुरुआती वर्षों की तुलना में 1970-80 के दशकों के आते-आते सोवियत संघ की आर्थिक वृद्धि दर में काफी गिरावट आ गई थी। कंप्यूटर विज्ञान के शिक्षक पॉल कॉकशॉट ने कुछ वर्ष पहले आई अपनी किताब 'हाउ द वर्ल्ड वर्क्स' में सोवियत संघ के आर्थिक उतार-चढ़ाव का एक लेखा-जोखा पेश किया था। उसके मुताबिक 1930 से लेकर 1970 तक (दूसरे विश्व युद्ध के वर्षों को छोड़ कर) सोवियत संघ ने तीव्र आर्थिक वृद्धि दर्ज की। इसकी सीधी वजह यह थी कि इस अवधि की शुरुआत में सोवियत संघ एक कृषि प्रधान समाज था। ऐसे में जब नियोजित ढंग से उसका औद्योगिक तथा तकनीक सक्षम अर्थव्यवस्था में रूपातंरण हुआ और साथ ही वह एक सैनिक महाशक्ति बना, तो उस काल में असाधारण रूप से तीव्र आर्थिक विकास होना एक स्वाभाविक परिघटना थी।

लेकिन यह गौर करने की बात है कि कोई भी अर्थव्यवस्था जब विकास का एक खास स्तर प्राप्त कर लेती है, तो उसके बाद वह अपने विकास क्रम के प्रारंभिक दौर में हासिल की गई वृद्धि दर को जारी नहीं रख सकती। तो 40 वर्षों तक पूरे गणराज्य का कायापलट करने के बाद सोवियत संघ में भी आर्थिक वृद्धि धीमी हुई। लेकिन ये ध्यान देने की बात है कि ये धीमी वृद्धि दर (2.5 प्रतिशत) भी उस समय अमेरिका और दूसरे पश्चिमी देशों की तुलना में अधिक तेज थी।

अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर धीमी होने की एक और बड़ी वजह सोवियत संघ पर पश्चिमी पूंजीवादी देशों की तरफ से लगाए गए प्रतिबंध थे। इन प्रतिबंधों की वजह से जो भी टेक्नोलॉजी उन धनी देशों में विकसित हुई थी, उससे सोवियत संघ वंचित हो गया। जबकि लगभग उसी समय अमेरिका ने सुनियोजित रणनीति के तहत सोवियत संघ को हथियारों की होड़ में उलझा दिया था। इस रणनीति को आकार देने में रिचर्ड निक्सन के समय विदेश मंत्री रहे हेनरी किसिंजर की खास भूमिका रही थी। इसी रणनीति पर आगे बढ़ते हुए तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रेगन ने स्टार वॉर कार्यक्रम लॉन्च किया था। तब अपनी सुरक्षा की चिंता में सोवियत संघ को हथियारों की होड़ में अपने को झोंकना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके आर्थिक संसाधनों का बड़ा हिस्सा इसमें लग गया। सैनिक दुस्साहस का परिचय देते हुए अपनी फौज को अफगानिस्तान भेजने के सोवियत फैसले का भी इसमें खास योगदान रहा। लेकिन सकल परिणाम यह हुआ कि तकनीक के अनवरत विकास के लिए जिस वित्तीय और मानव प्रतिभा के निवेश की जरूरत थी, उसमें सोवियत संघ पिछड़ गया। इसका सोवियत अर्थव्यवस्था के निरंतर आधुनिकीकरण के तकाजे पर बुरा असर पड़ा।

इसी पृष्ठभूमि में मिखाइल गोर्बाचेव 1985 में सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव बने। उसके बाद उन्होंने अपनी बहुचर्चित ग्लासनोस्त (खुलेपन) और पेरेस्त्रोइका (पुनर्निर्माण) की नीतियों पर अमल शुरू किया। लेकिन तब तक सोवियत संघ में विचारधारात्मक जमीन काफी क्षीण हो चुकी थी। खुद गोर्बाचेव समाजवादी प्रतिबद्धता से लैस थे या नहीं, ये सवाल बीते तीन दशकों में बार-बार उठता रहा है। ग्लासनोस्त और पेरेस्त्रोइका के जरिए वे कैसा समाज बनाना चाहते थे, ये उन्होंने कभी स्पष्ट नहीं किया। कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है कि उनकी चाहे जो भी परिकल्पना रही हो, लेकिन उसको लेकर जनता को जागरूक करने और उसके पक्ष में आम जन को आवश्यक मिशन मोड में लाने के लिए उन्होंने कोई प्रयास नहीं किए। नतीजा यह हुआ कि सोवियत समाज में एक नया भटकाव आ गया, 1950 के दशक में जोसेफ स्टालिन की मृत्यु के बाद उनकी विरासत से खुद को मुक्त करने की जो कोशिश सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी ने की थी, उससे पैदा हुआ भटकाव अब तक खत्म नहीं हुआ था।

बहरहाल, अभी हम बात आर्थिक पहलुओं की कर रहे थे। गोर्बाचेव सरकार ने समस्या की ये सही पड़ताल की कि सोवियत संघ में शराब पीने की बुराई हद से ज्यादा बढ़ गई है। इस बुराई का असर वहां के लोगों की सेहत पर पड़ रहा था। साथ ही इस कारण काम से गैर हाजिर रहने वाले लोगों की संख्या भी बढ़ती चली गई थी। इस समस्या का एक झटके में समाधान ढूंढने की कोशिश में गोर्बाचेव सरकार ने पूरे देश में शराबबंदी लागू कर दी। ऐसा उस समय किया गया, जब आर्थिक विकास दर गिरने के कारण टैक्स राजस्व में गिरावट आई हुई थी। शराबबंदी से सरकार के टैक्स राजस्व को अचानक बड़ा झटका लगा। जबकि इसका समाज को कोई लाभ नहीं हुआ, क्योंकि शराब का एक बड़ा अवैध मार्केट उभर आया और अपराधी गिरोह इस कारोबार से धनी होने लगे। बताया जाता है कि ये गिरोह ही उस भीड़ का बड़ा हिस्सा बना, जिसने सोवियत संघ के आखिरी दिनों में सड़कों पर लोगों को जुटाया और ब्लादीमीर लेनिन की प्रतिमाओं सहित अन्य कम्युनिस्ट प्रतीकों पर सामूहिक हमले किए।

यहां ये रेखांकित करने की बात है कि सोवियत संघ में टैक्स सिस्टम ऐसा था, जिसमें कर कंपनियों के कुल कारोबार पर लगता था। यानी कंपनियों का जो टर्नओवर होता था, उसका एक हिस्सा वे टैक्स के रूप में सरकार

को देती थीं। उत्पादन के साधनों पर खुद सरकार का स्वामित्व था। इसलिए कॉरपोरेट टैक्स या व्यक्तिगत आयकर से राजस्व बढ़ाने की गुंजाइश सरकार के पास नहीं थी।

पॉल कॉकशॉट ने कहा है कि जब शराबबंदी के कारण राजस्व का भारी नुकसान हुआ, तब गोर्बाचेव सरकार अन्य उत्पादों पर टैक्स बढ़ाकर उसकी भरपाई कर सकती थी। लेकिन तब तक सोवियत संघ में नव उदारवादी विचारों वाले प्रबंधक काफी प्रभावशाली हो चुके थे। ये प्रबंधक काफी समय से ऐसी दलीलें दे रहे थे कि सरकार को उद्यमों की स्वतंत्रता में दखल नहीं देना चाहिए। प्रबंधक ही बेहतर आर्थिक प्रबंधन जानते हैं, इस पूंजीवादी सोच में उनकी पूरी आस्था बन चुकी थी। गोर्बाचेव सरकार भी उनके प्रभाव में थी। इसलिए उसने कंपनियों के राजस्व को उनके पास ही छोड़ देने का तर्क मान लिया। इसका खराब असर राजकाज पर पड़ा। राजकोषीय संकट के कारण देश में महंगाई बढ़ी। जरूरी चीजों का अभाव पैदा हुआ। इससे लोगों में नाराजगी फैली। दूसरी तरफ कंपनियों के पास धन को बेहिसाब छोड़ देने का नतीजा हुआ कि प्रबंधकों ने जम कर गबन किया। इस घटनाक्रम से ठीक पहले गोर्बाचेव सरकार ने श्रमिक सहकारिताओं को स्वतंत्र रूप से कारोबार करने की इजाजत दे दी थी। लेकिन उसकी निगरानी की कोई उचित व्यवस्था नहीं की गई। इसका लाभ भी भ्रष्ट अधिकारियों और व्यापारियों ने उठाया। उनके भ्रष्टाचार से पूरा सिस्टम बदनाम हुआ। इन सबका भी लोगों में सोवियत व्यवस्था से मोहभंग पैदा करने में खास योगदान रहा।

दूसरी तरफ राजस्व की कमी से राजकोषीय संकट पैदा हुआ। तब सरकारी कामकाज को चलाने के लिए सोवियत सरकार को केंद्रीय बैंक को अतिरिक्त मुद्रा की छपाई करने का आदेश देना पड़ा। लेकिन मुद्रा की छपाई के साथ उचित आर्थिक विकास न होने की वजह से मुद्रा की अधिकता का परिणाम महंगाई और सोवियत अर्थव्यवस्था में लोगों का भरोसा घटने के रूप में सामने आया। ये सभी घटनाएं सोवियत व्यवस्था के ढहने की वजह बनीं। लेकिन ऐसा होना अवश्यंभावी नहीं था। इसलिए कि असल में सोवियत व्यवस्था में ऐसी बहुत सी खूबियां थीं, जो पूंजीवादी देशों में नहीं थीं। मसलन रोजगार की गारंटी, सबको मुफ्त शिक्षा और स्वास्थ्य देखभाल, बेहद सस्ता परिवहन, कर्मचारियों को सवैतनिक अवकाश और उनके मनोरंजन की व्यवस्था ऐसी खूबियां थीं, जिनको लेकर सोवियत सिस्टम में लोगों का भरोसा कायम रखा जा सकता था। लेकिन ऐसा नहीं हुआ, तो उसके कारण सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की वैचारिक शून्यता में छिपे थे।

इस सिलसिले में यह तथ्य भी उल्लेख के काबिल है कि अमेरिका में भी श्रमिक वर्ग और मध्य वर्ग की वास्तविक आय 1970 के बाद ठहराव का शिकार हो गई थी। आज यह बात हर अमेरिकी अर्थशास्त्री मानता है कि पिछले चार से पांच दशक में अमेरिका में कामकाजी वर्ग की वास्तविक आय नहीं बढ़ी है। इसका साफ मतलब है कि वहां नई टेक्नोलॉजी के इस्तेमाल से जो धन पैदा हुआ, वह चंद गिने-चुने धनी लोगों के पास इकट्ठा होता चला गया है। यह रुझान 2010 तक आते-आते इतना साफ हुआ कि अमेरिका और बाकी पूंजीवादी देशों में 99 फीसदी बनाम एक फीसदी की बहस खड़ी हो गई। फिर यह भी गौरतलब है कि जिस तरह के नव-उपनिवेशवादी शोषण का बाजार अमेरिका और दूसरे पूंजीवादी देशों को उपलब्ध था, वैसा सोवियत संघ के पास नहीं था। ऐसे में सोवियत संघ की अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर अगर धीमी हुई, तो उसे सकारात्मक ढंग से देखा और पेश किया जा सकता था। हकीकत यह है कि सोवियत संघ में आर्थिक वृद्धि दर धीमी होने का खामियाजा सिर्फ कामकाजी वर्ग को नहीं भुगतना पड़ा। बल्कि नौकरशाही, प्रबंधकीय और बुद्धिजीवी तबकों की आय और सुविधाएं भी इससे सीमित हुईं। यानी पूंजीवादी देशों की तरह यह नहीं हुआ कि धनी तबके और अधिक धनी होते जाएं और कामकाजी वर्ग आर्थिक गतिरोध का शिकार हो जाए।

किसी समाज में जनमत बनाने में बुद्धिजीवी, प्रबंधकीय और नौकरशाही तबकों की भूमिका सबसे अहम होती है। तमाम अध्ययनों से कृत्रिम ढंग से सहमति और असहमति गढ़ने और पॉलिटिकल नैरेटिव बनाने की उनकी क्षमता अब जग जाहिर हो चुकी है। इन तबकों ने सोवियत संघ में आर्थिक वृद्धि दर में गिरावट को व्यवस्था के ठहराव के रूप में चित्रित किया। इन तबकों की पहुंच पश्चिमी यानी पूंजीवादी देशों के मीडिया और वहां चलने वाले विमर्श तक थी। वहां जिस रूप में सोवियत संघ और दूसरे समाजवादी देशों की छवि गढ़ी गई थी, ये तबके काफी समय पहले उसमें यकीन करने लगे थे। गोर्बाचेव की ग्लासनोस्त नीति ने उन्हें अपने उस यकीन को लेकर पॉलिटिकल नैरेटिव बनाने और सोवियत जनता तक उसे प्रचारित करने का मौका दे दिया।

नतीजा यह हुआ कि सोवियत जनता का एक बड़ा हिस्सा अपने को पूंजीवादी दुनिया से पिछड़ा समझने लगा। पश्चिमी दुनिया की उपभोक्तावादी संस्कृति उन्हें आकर्षित करने लगी। उनमें ये धारणा फैलने लगी कि समाजवादी सिस्टम ने उन्हें दुनिया के उस सुख से दूर कर रखा है। पूंजीवाद की कथित आजादी और उपभोग के अवसर उन्हें सच्चे और सार्थक लगने लगे। उन्हें लगने लगा कि खुले बाजार की अर्थव्यवस्था ही आदर्श है। इन सबके कारण सोवियत व्यवस्था के पांव के नीचे से जमीन खिसकने लगी थी, जिससे 1991 आते-आते ये व्यवस्था भरभरा कर गिर पड़ी।

लेकिन इस बात को दोहराने की जरूरत है कि ऐसा होना अवश्यंभावी नहीं था। ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि वैचारिक या विचारधारात्मक रूप से सोवियत संघ पहले ही भटकाव का शिकार हो चुका था। किसी समाज की अर्थव्यवस्था जब विकसित होती है, तो उसके साथ मध्य वर्ग और प्रबंधकीय वर्ग का उदय होता है। यह वर्ग अपने स्वभाव में सुविधाभोगी होता जाता है। अगर उन लोगों पर किसी विचारधारा का प्रभाव न हो अथवा यह कहें कि उन्हें किसी विचारधारा में सघन प्रयास से दीक्षित नहीं किया गया हो, तो अपने वर्ग चरित्र के हिसाब से ये तबके श्रमिक वर्ग के विरोधी होते चले जाते हैं। धीरे-धीरे वे अपना हित शासक वर्ग से जुड़ा देखने लगते हैं। एक भूमंडलीकृत होती दुनिया में दुनिया भर के ऐसे तबके अपने हित वैश्विक शासक वर्ग से जुड़ा देखने लगते हैं। इस नजरिए से स्वाभाविक रूप से समाजवाद और साम्यवाद उत्पीड़क विचार और सिस्टम दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि इस विचार और सिस्टम में सबको समान समझने और बराबरी लाने की अंतर्निहित प्रेरणा होती है।

चीन में माओ ने इस बात को समझा था। इसीलिए उन्होंने क्रांति के अंदर क्रांति की बात कही थी। यानी उन्होंने क्रांति को सतत प्रक्रिया माना था। ऐसी प्रक्रिया जो किसी जगह पर जाकर पूर्ण या समाप्त नहीं होती। द्वंद्ववाद की भी असल में यही शिक्षा है।

सोवियत संघ में इस बात को न सिर्फ भुला दिया गया, बल्कि वहां खुद अपनी उपलब्धियों को लांछित किया गया। निकिता खुश्चेव के युग में जब जोसेफ स्टालिन की विरासत से सोवियत संघ ने अपने को अलग किया, तो उसका यह भी मतलब था कि स्टालिन के दौर तक की तमाम उपलब्धियों पर भी परदा डाल दिया गया। साथ ही इससे सोवियत जनता के एक बड़े हिस्से में भ्रम पैदा हुआ। अगर खुद सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के नेता अक्टूबर क्रांति (1917) के पहले 35 वर्ष के इतिहास को बदनाम करने पर तुले हुए थे, तो लोगों में पूरे कम्युनिस्ट दौर को लेकर भ्रामक स्थिति बनना लाजिमी ही था।

सोवियत संघ क्यों बिखरा, इस सवाल पर चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव शी जिनपिंग ने जो समझ रखी, उस पर ध्यान देना महत्त्वपूर्ण है। शी ने ये बात 2013 में पार्टी का महासचिव बनने के बाद अपने एक भाषण में कही थी। उन्होंने कहा था -

'सोवियत संघ क्यों बिखरा? सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी खंड-खंड क्यों हो गई? इसका महत्त्वपूर्ण कारण विचारधारात्मक क्षेत्र में छिपा है। वहां सोवियत यूनियन के ऐतिहासिक अनुभव का पूरी तरह से परित्याग करने की होड़ लग गई, लेनिन और स्टालिन का परित्याग करने की इस होड़ से सोवियत विचाराधारा में अफरातफरी मच गई। समाज ऐतिहासिक नकारवाद में उलझ गया। इससे हर स्तर पर पार्टी संगठन ऐसा हो गया कि वह शायद ही कोई काम करने योग्य बचा। इससे सेना का नेतृत्व करने की पार्टी की क्षमता क्षीण हो गई। अंतिम परिणाम यह हुआ कि सीपीएसयू (सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी) जो एक महान पार्टी थी, भयभीत जानवरों की तरह बिखर गई। सोवियत संघ जो एक महान देश था, वह दर्जनों टुकड़ों में बंट गया। अतीत का यही सबक है।'

इसके बाद शी ने देंग श्याओ फिंग को उद्धृत करते हुए कहा- 'कॉमरेड देंग श्याओ फिंग ने ध्यान दिलाया था कि माओ के विचार का परित्याग नहीं किया जा सकता। उस बैनर को छोड़ने का मतलब चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के गौरवशाली इतिहास को नकारना होगा। सामान्य रूप से कहें तो पार्टी आज भी गौरवशाली है। हालांकि हमारी पार्टी ने कुछ बड़ी गलतियां की हैं, जिनमें सांस्कृतिक क्रांति जैसी बड़ी गलती भी है, लेकिन अंततः हमारी पार्टी ने क्रांति को सफल बनाया है।'

सांस्कृतिक क्रांति (1966-76) चीन के इतिहास का एक विवादास्पद अध्याय है। शी ने उसे बड़ी गलती माना है, जबकि बहुत से लोग उसे उपलब्धियों से भरा एक ऐसा दौर मानते हैं, जिसमें गलतियां भी हुईं। लेकिन यहां मुद्दा वह नहीं है। यहां काबिल-ए-गौर बात पार्टी के पूरे इतिहास को आत्मसात करने और स्वीकार करने की है। इसका परिणाम है कि आज चीनी समाज में वैसा कोई वैचारिक भ्रम नहीं है, जैसा सोवियत संघ में 1953 के बाद बढ़ता चला गया। माओ का नाम लेना चीन में जुर्म नहीं है, बल्कि पूरी पार्टी और पूरा देश उन्हें गर्व और आदर से याद करता है। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी अपने देश को समृद्धि और मजबूती की तरफ ले जाते हुए आज अगर खुद भी मजबूत और लोकप्रिय बनी हुई है, तो उसके पीछे इस बात की भी बड़ी भूमिका है।

कुल मिलाकर सबक क्या है? सबक यह है कि कोई संगठन विचारधारा की शक्ति से चलता है। अगर अपनी विचारधारा के प्रति वह आस्थावान है, तो पूरे समाज को वह आस्थावान बनाए रखने में सक्षम होता है। वह ऐसा नैरेटिव समाज में पेश करने में सफल रहता है, जिससे लोग उसकी उपलब्धियों और खूबियों की तरफ देख सकें। चीनी समाज में जो प्रयोग वहां की कम्युनिस्ट पार्टी ने किए हैं, उसके कई दुष्परिणाम आज चर्चित हैं। मसलन, बढ़ी गैर-बराबरी और उपभोक्तावादी संस्कृति के फैलाव को किसी रूप में समाजवादी भावना के अनुरूप नहीं कहा जा सकता। लेकिन चीन की कम्युनिस्ट पार्टी इसे इस रूप में पेश करने में अब तक कामयाब है कि ये उसके चीनी स्वभाव के समाजवाद के बड़े प्रयोग के साइड इफेक्ट हैं, जिनसे वह निपटने का इरादा रखती है। वह सचमुच ऐसा कर पाएगी या नहीं, इस बारे में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। मुमकिन है कि किसी दिन चीन में भी पॉलिटिकल नैरेटिव पर से कम्युनिस्ट पार्टी की कमान उसी तरह फिसल जाए, जैसा सोवियत संघ में हुआ था। लेकिन अगर सिर्फ सात दशक के अनुभव की बात करें, तो यही कहा जा सकता है कि इतनी अवधि में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी अपनी अनेक उपलब्धियों और खूबियों के बावजूद विचारधारात्मक धरातल पर पराजित हो चुकी थी, जबकि चीन की कम्युनिस्ट पार्टी फिलहाल अपराजेय दिख रही है।

सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के सामने भी कार्ल मार्क्स की ये शिक्षा थी कि पूंजीपति आर्थिक शोषण सिर्फ अपनी भौतिक ताकत के बल पर नहीं करते, बल्कि अपने वर्गीय विचारों और उसूलों को समाज पर थोप कर शोषित वर्गों में अपने शासन के लिए सहमति बनाए रखते हैं। फ्रेडरिक एंगेल्स ने इसे 'असत्य चेतना' कहा था। उन्होंने कहा था कि असत्य चेतना श्रमिक वर्ग को अपने उत्पीड़न की पहचान करने और उसे ठुकराने से रोके रखती है। बीसवीं सदी में इटली के मशहूर कम्युनिस्ट विचारक एंतोनियो ग्राम्स्की ने सोच के वर्चस्व की व्याख्या भी इसी रूप में की थी कि शासक वर्ग सिविल सोसायटी में अपने हितों, मान्यताओं और उसूलों को लेकर ऐसी सहमति गढ़ लेता है, जिससे शोषित तबके को उस सिस्टम में कोई बुराई नजर नहीं आती। इन सभी व्याख्याओं का निष्कर्ष यह है कि उच्चतर आदर्श वाली किसी व्यवस्था की स्थापना और उसके संचालन के लिए जरूरी है कि समाज में वैचारिक संघर्ष लगातार जारी रखा जाए।

कम्युनिस्ट या सोशलिस्ट पार्टियों का अस्तित्व और उनकी सफलता इस पर ही निर्भर है कि ऐसे संघर्ष के जरिए अपनी विचारधारा को वे कैसे और कब तक आम जन की परिकल्पनाओं का हिस्सा बनाए रख पाती हैं। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी आरंभिक दशकों के बाद इस काम में पिछड़ती चली गई। नतीजा दुनिया ने देखा। लेकिन बाद की पीढ़ियां उससे यह सबक ले सकती हैं कि वैचारिक आस्था, उस पर आधारित नैरेटिव और उसके हक में संघर्ष से ही वह समाज बनाया जा सकता है, जो क्रमिक रूप से बराबरी की ओर बढ़ते हुए सबके लिए न्याय को सुनिश्चित कर पाए। ❑

फिलिस्तीन के हमारे प्रिय लोगों! हमारी चुप्पी के लिए हमें क्षमा करना

❑ मनोज कुमार झा

भारत ने हाल ही में महात्मा गांधी की 150वीं जयंती मनायी है। वर्तमान सरकार को उनके आदर्शों और शिक्षाओं के प्रति दिखावटी प्रेम प्रकट करने का बहुत शौक है। जब फिलीस्तीन के मुद्दे उठें, तो गांधीजी के शब्दों को याद रखना चाहिए-

'फिलिस्तीन अरबों का है, उसी तरह से जैसे इंग्लैंड अंग्रेजों का है या फ्रांस फ्रांसीसियों का है। यहूदियों को अरबों पर थोपना गलत और अमानवीय है। आज फिलिस्तीन में जो कुछ भी घटित हो रहा है, उसे किसी भी नैतिक आचार संहिता से उचित नहीं ठहराया जा सकता। निश्चित रूप से यह मानवता के खिलाफ एक अपराध होगा कि गर्वीले अरबों को इतना दबा दिया जाए, ताकि फिलिस्तीन को आंशिक रूप से या पूरी तरह से यहूदियों की राष्ट्रीय भूमि के रूप में बहाल किया जा सके।' (हरिजन, 26 नवम्बर 1938)।

गांधीजी के इस आह्वान की प्रतिध्वनि दुनिया भर के अधिकांश विचारकों, कार्यकर्ताओं और नागरिकों की आवाज में भी गूंजती है, लेकिन जाने क्यों हमारी वर्तमान सरकार को यह गूंज नहीं सुहाती है। अधिकांश भारतीय अभी भी प्यार से याद करते हैं कि कैसे आजादी के बाद के कुछ शुरुआती दशकों में भारत-फिलिस्तीन द्विपक्षीय संबंधों में दोस्ती और हमदर्दी की भावनाएं भरी हुई थीं। इस महान विरासत को त्यागने के बजाय, मनुष्यता के हित में भारत और फिलिस्तीन के बीच संबंधों को अनिवार्यता की सामूहिक भावना के साथ और ज्यादा मजबूत करने की आवश्यकता है। मुझे हमेशा बहुत खुशी होती है, जब मैं भारतीय विश्वविद्यालयों में युवा छात्रों को फिलिस्तीनी लोगों के साथ अपनी एकजुटता व्यक्त करने के लिए कार्यक्रमों का आयोजन करते हुए सुनता हूं। जब भारत और फिलिस्तीन के लेखक और कलाकार अपने कामों पर चर्चा करने के लिए एक साथ आते हैं, तो यह हम सभी के लिए एक न्यायपूर्ण, सुंदर और शांतिपूर्ण भविष्य की कल्पना करने की संभावनाओं को खोलता है। हमें विचार-विमर्श और विचारों का आदान-प्रदान जारी रखना चाहिए। हमें अपने साझा इतिहास को याद रखना चाहिए और इस पर बोलते रहना चाहिए।

भारतीय उस बात का हिस्सा नहीं हो सकते, जिसे इतिहासकार इलान पप्पे आपके इतिहास का गैर-राष्ट्रीयकरण कहते हैं। ऐसी हालत मनोवैज्ञानिक परित्याग की जिस भावना में आपको झोंक देगी, उससे मैं पूरी तरह अवगत हूं। एक ऐसा देश, जो 'वसुधैव कुटुम्बकम' यानि 'पूरी दुनिया एक परिवार है', के सिद्धांतों में विश्वास करता है, उसके नागरिक के रूप में हमारे लिए और भी महत्वपूर्ण है कि जो कुछ भी नैतिक रूप से गलत और अन्यायपूर्ण हो रहा हो, उस सब की भर्त्सना करें। हालाँकि, आज हमारे यहां जिन कूटनीतिक आख्यानों की शेखी बघारी जा रही है, वे हमें बेदखल किये जा रहे लोगों के उद्देश्य को समर्थन देना तो दूर की बात है, विशिष्ट परिस्थितियों का संज्ञान लेने और उन्हें स्वीकार करने के बजाय एक दुविधाग्रस्त और अस्पष्टता की स्थिति में ले जा रहे हैं। आजादी के चौहत्तर साल बाद हम उन लोगों की पांत में शामिल हो गये हैं, जो मानवता के खिलाफ किए जा रहे इस अपराध के जिम्मेदार हैं, जिसे भांति-भांति तरीके से 'रंगभेद' और 'बढ़ता जा रहा नरसंहार' कहा जाता है।

अपनी भूमि और साथ ही साथ अपनी स्मृति से भी अपनी उग्र और हिंसक बेदखली के खिलाफ आपके वीरतापूर्ण संघर्ष को गलत तरीके से प्रस्तुत करने, अदृश्य कर देने और बदनाम करने की सुव्यवस्थित कोशिशें होती रही हैं। इसलिए संयुक्त राष्ट्र में मतदान से यह हालिया अनुपस्थिति उस प्रतिमान का हिस्सा है, जिसे इस शासन ने सावधानीपूर्वक पोषित किया है और साथ ही यह शासन यह भी चाहता है कि हम यह भूल जाएं कि जब भी बात पक्ष लेने की होती है, तो भारत हमेशा उत्पीड़कों की ताकत या धौंस की परवाह किए बिना उत्पीड़ितों के साथ खड़ा होता है।

आपके संघर्ष के साथ हमारे भावनात्मक जुड़ाव के ऐतिहासिक मार्ग को सावधानीपूर्वक मिटाया जा रहा है। दुर्भाग्य से हमारी मुख्यधारा के मीडिया के एक बड़े हिस्से ने इस्लामद्वेषी विमर्श के दायरे को विस्तार देकर वर्तमान शासन की मदद की है। नतीजतन, उन्होंने आपके मुद्दे को महज एक मुस्लिम मुद्दा बना कर रख दिया है, और यही काम पश्चिमी दुनिया भी इतने सालों तक करती रही है।

मैं यह स्पष्ट करने का प्रयास करना चाहता हूं कि हम ऐसी स्थिति में कैसे पहुंचे, जहां हमें भारत-फिलिस्तीनी संबंधों की समृद्ध विरासत को खत्म करने का कोई अफसोस नहीं है। आज हम इतिहास के ऐसे दौर में हैं, जब सरकार यह मानने लगी है कि चुनावी बहुमत इतिहास सहित किसी भी चीज को रौंदने का लाइसेंस है। हमने अपने देश के भीतर भी, और अन्य देशों के साथ अपने संबंधों में भी इसके कई उदाहरण देखे हैं। सरकार कैसे सोचती है और उसी सरकार को चुनने वाले लोग कैसा महसूस करते हैं, इसके बीच एक बड़ा फासला आ गया है। दुर्भाग्य से, हमारे पास अगले आम चुनाव, जो अभी भी कुछ साल दूर हैं, से पहले सरकार और उसके फैसलों पर लगाम लगाने की कोई व्यवस्था नहीं है।

यहूदी मेनुहिन, जो एक यहूदी हैं और बेहतरीन वायलिन वादक हैं, उनके शब्द याद करने लायक हैं, जो संगीत में उनके योगदान के लिए 1991 में इज़राइल का प्रतिष्ठित वुल्फ पुरस्कार प्राप्त करते हुए उन्होंने कहे थे - 'एक बात बिल्कुल साफ है कि जीवन की बुनियादी गरिमा का तिरस्कार करते हुए, भय के बल पर किया जा रहा यह अनावश्यक शासन और आश्रित लोगों पर निरंतर दमघोंटू दबाव, वह भी ऐसे लोगों के हाथों अंतिम विकल्प होना चाहिए था, जो ऐसी हालात में अस्तित्व के भयावह दुष्परिणामों और अविस्मरणीय पीड़ा को अच्छी तरह से जानते हैं।'

सैकड़ों नन्हे बच्चों की मौतों और घायल होने की खबरों ने हमें गहरा दुख पहुंचाया है। चूंकि हम खुद भी कोविड-19 की घातक दूसरी लहर से जूझ रहे हैं, इसलिए हम इस बात के लिए भी चिंतित हैं कि आप चिकित्सा-सामग्री और टीकों तक की अनुपलब्धता के बीच इस महामारी में दोहरी असुरक्षा के बीच घिरे हुए हैं। हमारे फिलीस्तीनी मित्रों, हाल के दिनों में हमने जो कुछ किया है, उसके लिए आप हमें क्षमा करें। आपकी उम्मीदों पर खरे नहीं उतरने के लिए हमें क्षमा करें। हमारी भद्दी चुप्पी के लिए हमें क्षमा करें। लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूं कि भारत का सभ्यतागत स्वभाव ऐसे किसी भी शासन की तुलना में कहीं अधिक शक्तिशाली है, जो मानता हो कि वे स्मृति और इतिहास को मिटा सकते हैं और फिर से लिख सकते हैं। ❑

सातवीं सालगिरह और लोकप्रियता का टूटता तिलिस्म!

❑ श्रवण गर्ग

नरेंद्र मोदी ने तीस मई को अपने प्रधानमंत्री काल के सात वर्ष पूरे कर लिये। कहा यह भी जा सकता है कि देश की जनता प्रधानमंत्री के रूप में मोदी के साथ अपनी यात्रा के सात साल पूरे कर लेगी। कोरोना महामारी के प्रकोप और लगातार हो रही मौतों के शोक में डूबा हुआ देश निश्चित ही इस सालगिरह का जश्न मनाने की स्थिति में नहीं है। सरकार और सत्तारूढ़ दल के पास तो ऐसा कुछ कर पाने का वैसे भी कोई नैतिक अधिकार नहीं बचा है।

कहा जा रहा है कि कोरोना से मरने वालों के आँकड़े जैसे-जैसे बढ़ रहे हैं, नदियों के तटों पर बिखरी हुई लाशों के बड़े-बड़े चित्र दुनिया भर में प्रसारित हो रहे हैं, प्रधानमंत्री की लोकप्रियता का ग्राफ भी उतनी ही तेज़ी से गिर रहा है। इस गिरावट को लेकर आँकड़े अलग-अलग हैं, पर इतना तय बताया जाता है कि उनकी लोकप्रियता इस समय सात सालों के अपने न्यूनतम स्तर पर है। प्रधानमंत्री की लोकप्रियता का सर्वेक्षण करने वाली एक एजेन्सी के अनुसार सर्वे में शामिल किए गए लोगों में सिर्फ 37 प्रतिशत ही इस समय प्रधानमंत्री के कामकाज से संतुष्ट हैं (पिछले साल 65 प्रतिशत लोग संतुष्ट थे)। भाजपा चाहे तो इसे इस तरह भी पेश कर सकती है कि मोदी के खिलाफ इतने 'दुष्प्रचार' के बावजूद 37 प्रतिशत जनता अभी भी उनके पक्ष में खड़ी हुई है और यह भी कि इतने विपरीत हालात में भी इतने समर्थन को खारिज नहीं किया जा सकता।

विश्व बैंक के पूर्व आर्थिक सलाहकार और ख्यात अर्थशास्त्री कौशिक बसु के इस कथन से सहमत होने के लिए हो सकता है, देश को किसी और भी बड़े पीड़ादायक अनुभव से गुजरना पड़े, जिसका मोदी मौक़ा नहीं देने वाले हैं, ''लगभग सभी भारतीय, जो अपने देश से प्रेम करते हैं, 2024 की उसी तरह से प्रतीक्षा कर रहे हैं, जिस तरह की प्रतीक्षा उन्होंने 1947 की थी।'' शक है कि मोदी उस क्षण को कभी जन्म भी लेने देंगे। हम अपने प्रधानमंत्री की क्षमता को अगर बीते सात वर्षों में भी नहीं परख पाए हैं, तो अगले तीन साल उसके लिए बहुत कम पड़ेंगे। हम उस शासन तंत्र की निर्मम ताक़त से अभी भी अपरिचित हैं, जो एकाधिकारोन्मुख व्यवस्थाओं के लिए अभेद्य कवच का काम करती है।

अमेरिका में डॉनल्ड ट्रम्प की लोकप्रियता को लेकर लगातार किये जाने वाले सर्वेक्षणों में भी तब काफी गिरावट दिखाई गयी थी। वहां राष्ट्रपति चुनावों (नवंबर 2020) के पहले तक कोरोना से दुनिया भर में सबसे ज्यादा (पांच लाख) लोगों की मौतें हो चुकी थीं। अर्थव्यवस्था ठप्प पड़ गयी थी। बेरोजगारी चरम पर थी। इस सबके बावजूद बाइडन के मुकाबले ट्रम्प की हार केवल सत्तर लाख के करीब (पॉप्युलर) मतों से ही हुई थी। ट्रम्प आज भी अपनी हार को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका आरोप है कि उनसे जीत चुरा ली गयी। ट्रम्प फिर से 2024 के चुनावों की तैयारी में ताकत से जुटे हैं। ट्रम्प की रिपब्लिकन पार्टी से उन तमाम लोगों को 'मार्गदर्शक मंडल' में पटका जा रहा है, जो उनकी हिंसक, नस्लवादी और विभाजनकारी नीतियों का विरोध करने की हिम्मत करते हैं।

एंड्रयू एडोनिस एक ब्रिटिश राजनीतिक पत्रकार हैं। उन्हें पत्रकार राजनेता भी कह सकते हैं। वे ब्रिटेन की लेबर पार्टी से जुड़े हैं और प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर की सरकार में पाँच वर्ष मंत्री भी रहे हैं। उनकी कई खूबियों में एक यह भी है कि वह भारत की राजनीति पर लिखते रहते हैं। एडोनिस ने पिछले दिनों अपने एक आलेख में बड़ा ही कठिन सवाल पूछ लिया कि असली मोदी कौन है और क्या हैं? इसके विस्तार में वे घूम-फिरकर तीन सवालों पर आ जाते हैं; मोदी अपने आपको किस देश का नेतृत्व करते हुए पाते हैं? भारत का या किसी हिंदू भारत का? मोदी भारत में प्रजातंत्र की रक्षा कर रहे हैं या उसका नाश कर रहे हैं? क्या मोदी, जैसा कि वे अपने आपको एक सच्चा आर्थिक नवोन्मेषी बताते हैं, वैसे ही हैं या फिर कट्टरपंथी धार्मिक राष्ट्रवादी, जो आधुनिकीकरण को अपनी सर्वोच्चता स्थापित करने का हथियार बनाकर अपने प्रस्तावित सुधारों का लाभ एक वर्ग विशेष को पहुंचाना चाहता है? एंड्रयू एडोनिस ने मोदी के प्रधानमंत्रित्व को लेकर जो सवाल पूछे हैं, उनसे कठिन सवाल उस समय पूछे गए थे, जब वे एक दशक से अधिक समय तक गुजरात के मुख्यमंत्री रहे थे। उन सवालों के जवाब कभी नहीं मिले।

मोदी ने भाजपा को 1975 से 1984 के बीच की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में बदल दिया है, जिसमें देवकांत बरुआ जैसे चारणों ने इंडिया को इंदिरा और इंदिरा को इंडिया बना दिया था। पिछले सात सालों में भाजपा में बरुआ के लाखों-करोड़ों क्लोन खड़े कर दिए गए हैं। स्थिति यह है कि समूची व्यवस्था पर कब्जा जमा लेने वाले इन लोगों के जीवन-मरण के लिए मोदी ऑक्सीजन बन गए हैं। इनमें सबसे बड़ी और प्रभावी भागीदारी बड़े औद्योगिक घरानों, मीडिया प्रतिष्ठानों, मंत्रियों और अधिकारियों के अपवित्र गठबंधन की है। इस गठबंधन के लिए ज़रूरी हो गया है कि वर्तमान व्यवस्था को किसी भी कीमत पर सभी तरह और सभी तरफ़ से नाराज़ जनता के कोप से बचाया जाए। लाशों को ढोते-ढोते टूटने के कगार पर पहुँच चुके लोगों से यह गठबंधन अंत में यही एक सवाल करने वाला है कि वे हिंसक अराजकता और रक्तहीन एकदलीय तानाशाही के बीच किसे चुनना पसंद करेंगे?

प्रधानमंत्री अपने सात साल के सफ़र के बाद अगर किसी एक बात को लेकर इस समय चिंतित होंगे तो वह यही हो सकती है कि हरेक नागरिक कोरोना से उपजने वाली प्रत्येक परेशानी और जलाई जाने वाली हरेक लाश के साथ उनके ही बारे में क्यों सोच रहा है? ऐसा पहले तो कभी नहीं हुआ ! यह एक ऐसी एंटी-इंकम्बेन्सी है, जिसमें देश भले राजनीतिक विपक्ष से मुक्त है, पर महामारी ने जनता को ही विपक्ष में बदल दिया है। प्रधानमंत्री जनता का दल-बदल नहीं करवा सकते। महसूस किया जा सकता है कि प्रधानमंत्री इस समय काफ़ी असहज दिखाई पड़ते हैं। वे मौजूदा हालात को लेकर चाहे जितना भी भावुक दिखना चाह रहे हों, उन पर यक़ीन नहीं किया जा रहा है। ❑

किसान आंदोलन का विस्तार हो रहा है!

❑ अभिषेक श्रीवास्तव

दिल्ली की सीमाओं पर जबरदस्त ऊर्जा से चल रहे किसान आंदोलन को अब देश के कोने कोने में ले जाने की जरूरत है। जनता के बीच गोदी मीडिया और अनैतिक हो चुकी सत्ता ने आंदोलन के विषय में ढेर सारी गलतफहमियां फैलाई हैं। इन गलतफहमियों को सुधारने के लिए और कृषि कानूनों के लागू होने की स्थिति में पड़ने वाले दुष्प्रभाव को बताने के लिए अब लोगों के बीच सीधे पँहुचने की जरूरत है। संयुक्त किसान मोर्चा ने पांच चुनावी राज्यों में उसी क्रम में बीजेपी के विरुद्ध प्रचार करने की अपनी गतिविधि भी इसी वजह से तय कर ली है।

यह वर्ष असहयोग आंदोलन के 100 वर्ष पूरे होने का भी है। ब्रिटिश हुकूमत को हमने एकजुट होकर जैसे भगाया था, ठीक वैसे ही आज 2021 में नव उदारवाद के दौर में आई.एम.एफ., विश्व बैंक और देसी विदेशी कारपोरेट के चक्कर में फँसे अपने देश को आज़ाद कराने के लिए कमर कसनी होगी। दुखद है कि देश में एक ऐसी सरकार है, जो रोज केवल यह सोचती है कि जनता की किस-किस संपत्ति को बेचा जाय, ताकि कारपोरेट वर्ल्ड और मल्टीनेशनल कंपनियां भारत में बेखटके अपना राज कायम कर सकें। रेल, हवाई जहाज कम्पनियां, कल कारखाने सब निजी हाथों में बेचते हुए इस आतताई हो चुकी सत्ता को तनिक भी लाज नही आई। पेट्रोल, गैस मंहगे करके मध्यम वर्ग और गरीब की रसोई में सीधे डकैती की जा रही है। कम्पनियों की भूख बढ़ती ही जा रही है और इसी क्रम में कृषि कानूनों के माध्यम से देश की जमीन और फ़ूड सिक्योरिटी इनके नियंत्रण में देने की तैयारी की गयी है।

यह तीन काले कानून ऐसे आ गए, जैसे कभी ब्रिटिश काल में रोलेट एक्ट आया था, जिसका विरोध करते हुए महात्मा गांधी भारत की राष्ट्रीय राजनीति के मंच पर एक आंदोलनकारी नेता के रूप में उभरे थे। गांधीजी की दिल्ली और पंजाब में प्रवेश पर अंग्रेजों ने रोक लगा दी थी। उसी वक्त पंजाब के जालियांवाला बाग में होने वाली मीटिंग में शामिल निहत्थे लोगों पर गोली चला कर जनरल डायर ने देश को झकझोर दिया। रवींद्रनाथ टैगोर ने इस हत्याकांड के बाद अपने सभी पदक और उपाधियां लौटाकर खुद को भारत की जनता के साथ खड़ा किया। यहीं से भगत सिंह भी उभरे। इस प्रकार भारत में देशज राष्ट्रवाद की दो अभिव्यक्तियां मुखर हो गयीं, एक महात्मा गांधी तथा दूसरे रवींद्रनाथ टैगोर। महात्मा गांधी शांत रहकर आंदोलन को आगे बढ़ाते हुए असहयोग आंदोलन तक पहुंचे, भारतीय राष्ट्रवाद को एक व्यवस्थित शक्ल प्रदान की और कांग्रेस को एक जन आधारित संगठन में बदल दिया। रवींद्र नाथ टैगोर ने एक विचारक के तौर पर राष्ट्रवाद की पाश्चात्य अवधारणा को चुनौती देते हुए भारत के देशज राष्ट्रवाद को अपने साहित्य के माध्यम से नई शक्ल देना शुरू किया। पंजाब में रोलेट ऐक्ट का बहुत विरोध हुआ था। जालियांवाला बाग हत्याकांड का विरोध भारतीय राष्ट्रवाद का अभूतपूर्व जन जागरण बन गया था। यह राष्ट्रवाद जब बंगाल की धरती पर रवींद्र नाथ टैगोर की लेखनी में देशज राष्ट्रवाद की शक्ल में अभिव्यक्त हुआ तो इसने अपना वैचारिक मुकाम हासिल किया। आज 100 वर्षों बाद जब छात्र, शिक्षक, खिलाड़ी, साहित्यकार, वैज्ञानिक, कलाकार आदि इस सरकार की मुखालफत कर रहे हैं तो ऐसा लग रहा है जैसे फिर से इतिहास दोहराया जा रहा है। आज भी इस देशज राष्ट्रवाद का मुकाबला उन राष्ट्रवादी विचारों से है, जो धर्म के आधार पर राष्ट्रवाद की व्याख्या करते हैं, जबकि भारत में आजादी की लड़ाई के दौरान कभी ऐसा राष्ट्रवाद पाया नहीं गया। महात्मा गांधी और रवींद्र नाथ टैगोर दोनों के लिए भारतीय राष्ट्रवाद में सर्वधर्म समभाव का मूल्य सनातन रूप से अंतर्निहित है।

गांधी और टैगोर इस मिट्टी की पैदाइश है और ताजिंदगी इस मिट्टी के वैभव के लिए ही लड़ते रहे। उसी प्रेरणा से आज हमें अपनी मिट्टी, खेती और किसानी को बचाने के साथ साथ देश के संविधान और उसके मूल्यों को बचाने के लिए भी एकजुट होना है।

किसान आंदोलन के शांतिपूर्ण सत्याग्रह के रूप में लिए गए तमाम कार्यक्रम गांधी के सत्याग्रह से ही प्रेरित हैं।इसे देश भर में विस्तार देकर नई आजादी और व्यवस्था परिवर्तन के निमित्त जन सत्याग्रह बनाने के लिए भी गांधी के नेतृत्व में हुए स्वतंत्रता के आंदोलन से हमें मार्गदर्शन और प्रेरणा लेनी चाहिए।

देश भर के तमाम सामाजिक कार्यकर्ताओं का भी यही मानना है, जिनमें मेधा पाटकर, सुनीलम, योगेंद्र, तुषार गांधी, संजय मांगो सुनीति, फिरोज मिथिबोरवाला, गुड्डी, रामशरण, सर्व सेवा संघ से रामधीरज, पुतुल, अनूप श्रमिक, जागृति राही आदि तमाम लोगों ने चर्चा कर तय किया है कि 12 मार्च से गांधी जी ने आजादी की लड़ाई में दांडी यात्रा शुरू की थी, जो 6 अप्रैल तक चली थी, इस अवसर पर किसान आंदोलन से जुड़े तमाम जनसंगठनों के नेतृत्व में 12 मार्च से 6 अप्रैल तक 'मिट्टी सत्याग्रह' नमक सत्याग्रह के तर्ज पर चलाया जाएगा। इसमें 12 मार्च से होली के पहले तक स्थानीय स्तर पर हर राज्य के साथी यात्राएं निकाल कर मिट्टी इकट्ठी करेंगे और किसान सत्याग्रह के लिए सत्याग्रही चिन्हित करेंगे। आज से 100 साल पहले हमने विदेशी कपड़ों की होली जलाकर अंग्रेजों की नाक में दम कर दिया था। अबकी साल हम 29, 30 मार्च को होलिका दहन में बिल की प्रतियों का दहन करेंगे। फिर 30 मार्च से 6 अप्रैल तक यात्रा करके सिंघु बोर्डर पहुंचेगे और उस पवित्र मिट्टी से आंदोलन में शहीद हुए किसानों के लिए स्मारक का निर्माण करेंगे। **-जनचौक**

स्टोलपेरस्टाइन

कोई समाज अपने इतिहास की गलतियों को किस तरह याद रखता है!

❑ सुभाष गाताडे

कई बार बेहद छोटे से लगने वाले प्रसंग अतीत के स्याह झरोखों में झांकने का अचानक मौका देते हैं. दो साल पहले ऐसे ही अनुभव से हम रूबरू थे.

जर्मनी के बॉन शहर की सुनसान सड़क पर एक दुकान के पास से मुड़ते हुए हमने सपने में भी नहीं सोचा था कि सड़क पार एक मकान के बिल्कुल सामने करीने से ठोंकी गयीं पीतल की चौकोर प्लेटें, जिन पर कुछ लोगों के विवरण अंकित थे, हमें अचानक लगभग अस्सी साल पहले उसी मकान के चार निवासियों के साथ क्या हुआ था, इसकी दास्तां से रूबरू करवाएंगी. दरअसल हम लोग अचानक पीतल की उन प्लेटों से जा टकराए थे, जो उस मकान के सामने दरवाजे के पास ही फुटपाथ पर ठोंकी गयीं थीं.

आप समझ सकते हैं कि मकान का दरवाज़ा फुटपाथ पर ही खुलता था और दरवाजे के दोनों तरफ कुछ दुकानें थीं, जैसा दृश्य दुनिया के किसी भी शहर, नगर में देखा जा सकता है. फुटपाथ में ठोंकी गयीं इन प्लेटों की संख्या चार थी, जिन पर बायीं तरफ शायद परिवार के मुखिया का नाम अंकित था 'बर्नहार्ड मार्क्स', जबकि दाहिनी तरफ की प्लेटों पर परिवार के अन्य सदस्यों- एरना मार्क्स (जन्मः 1899), हेलेना (जन्म : 1929) और जूली (जन्म : 1938) दर्ज थे और बाकी विवरण वही थे.

जैसा कि विवरण से ही स्पष्ट था कि इन चार प्लेटों का संबंध, जिनका क्षेत्रफल अधिक से अधिक 9 वर्ग इंच था, जर्मनी के इतिहास के उस डरावने दौर से था, जब लाखों की तादाद में निरपराध लोग, यहूदी, रोमा, जेहोवाज विटनेसेसे सम्प्रदाय से जुड़े लोग, समलैंगिक यहां तक कि राजनीतिक विरोधी भी, सफाये का शिकार हुए थे, जब उन्हें यातना शिविरों में, गैस चैम्बर्स में भेज कर मारा गया था और यातना शिविरों के अपने सीमित प्रवास के दौरान उन पर तरह-तरह के खतरनाक प्रयोग भी किये गये थे.

उस स्थान के निवासी मार्क्स परिवार के चारों सदस्यों को मिन्स्क के यातना शिविर में भेजा गया था और जैसा कि प्लेट पर अंकित तारीख बता रही थी कि वहां पहुंचने के महज चार दिन के अन्दर उनकी हत्या कर दी गयी थी. मिन्स्क यातना शिविर में कितने लोग मारे गए थे, इसका प्रत्यक्ष विवरण तो उपलब्ध नहीं है, लेकिन दो साल के अंदर वहां कम से कम 65,000 यहूदियों का नस्लीय सफाया कर दिया गया था.

जाहिर है कि इतने बड़े पैमाने पर आयोजित इस जनसंहार में बर्नहार्ड मार्क्स, उनकी पत्नी एरना, और बेटियां हेलेना तथा जूली महज एक संख्या के तौर पर गिने जा रहे थे. हम महज कल्पना ही कर सकते हैं कि उस दुर्भाग्यपूर्ण दिन क्या हुआ होगा.

हो सकता है कि जर्मन सेना के चन्द नुमाइन्दे या नात्सी तूफानी दस्तों के लोग बर्नहार्ड के घर पहुंचे होंगे और उन्होंने उन सभी को साथ में लाए गए किसी ट्रक में या वाहन में ढकेला होगा, जबकि उनके तमाम मोहल्ले वाले बर्नहार्ड के मकान के इर्दगिर्द इकट्ठे हुए होंगे और जश्न की मुद्रा बना रहे होंगे. जर्मन सेना के उन नुमाइन्दों की हौसला अफजाई कर रहे होंगे.

मुमकिन है कि सबकुछ इतना 'व्यवस्थित' नहीं भी हुआ हो, सैकड़ों की तादाद में भीड़ वहां जमा हुई हो, जो 'हेल हिटलर' अर्थात 'हिटलर की जय हो' के नारे लगा रही हो और उन्होंने पलक झपकते ही बर्नहार्ड, एरना, हेलेना आदि को पीटना शुरू किया हो, जबकि छोटी जूली अपनी मां के पहलू में अपने आप को छिपाने का असफल प्रयास कर रही हो. और फिर हो सकता है कि पीटते-पीटते ही उन्हें हिटलर के नात्सी सिपाहियों के सुपुर्द किया गया हो और फिर किसी ट्रेन में या ट्रक में उनकी रवानगी मिन्स्क हुई हो!

चीज़ें जैसे घटित हुईं होंगी, इसका विवरण पता नहीं कहीं मिलेगा या नहीं, लेकिन पीतल की प्लेटें, जो बर्नहार्ड मार्क्स परिवार के उस भूतपूर्व मकान के सामने ही फुटपाथ पर ठोंकी गयी थी, इस बात की ताईद जरूर कर रहीं थीं कि 20 जुलाई 1942 का वह दिन उनके लिए मौत का वारंट लेकर आया था.

हमें उन पीतल की प्लेटों को बारीकी से निहारते हुए देख कर हमारे साथ चल रही उर्मि, हमारी बेटी, जो उन दिनों वहां रिसर्च के काम में मुब्तिला थी, रुक गयी थी. फुटपाथ पर अचानक रुक कर, जहां लोग आ जा भी रहे थे, उन प्लेटों को देख रहे अपने माता पिता के चेहरे पर एकत्रित आश्चर्य और चिंता की लकीरों को देखते हुए वह चुपचाप वहां खड़ी रह गयी थी. जब हमने उसकी तरफ देखा तो अपने मौन को तोड़ कर उसने उन अलग किस्म के 'स्मारकों' के बारे में बताया था, जो उस स्याह दौर की याद दिलाने के लिए जगह जगह बने हैं.

उसने हमें धीरे से बताया कि इन्हें स्टोलपेरस्टाइन कहते हैं. जर्मन भाषा में स्टोलपेर का मतलब होता है 'स्टम्बल अर्थात ठोकर लगना' और 'स्टाइन' का अर्थ होता है पत्थर.

मोटा मोटी यह समझें कि फुटपाथ या सड़क पर हल्की सी ठोकर लगने से जब आप रुक जाएं, तो सोचें कि किस तरह एक ऐसा वक्त था, जब इसी सरजमीन पर सात-आठ दशक पहले हाड़ मांस के इनसानों के साथ बाकियों ने वहशी सलूक किया था, महज इस वजह से कि वह इस मामले में अलग थे कि वह किसी अलग मत को मानने वाले थे। जिस समाज पर, जिसके इतिहास पर हम गर्व करते

हैं, उसका एक स्याह पन्ना यह भी है.

उसने हमें बताया कि इन पीतल की प्लेटों के जगह-जगह, जहां ऐसे वाकये हुए थे, लगाने का मकसद है कि आज की पीढ़ी को इस बात के लिए लगातार जागरूक करते रहा जाए कि तीस के दशक के उत्तरार्द्ध में या चालीस के दशक के पूर्वार्ध में आखिर क्या घटित हुआ था और इस पर लगातार विचार करते रहा जाए कि क्यों और किस तरह अपने समाज का ही एक बड़ा हिस्सा उन दिनों बर्बरों को भी शरमा देने वाले हिंसाचारियों, दंगाइयों में तबदील हुआ था.

यूं तो दुनिया भर में फैले नाम-अनाम लोगों के स्मारकों के विवरण किसी एक स्थान पर एकत्रित नहीं होंगे, लेकिन अनाम लोगों के नाम बने स्मारकों के तौर पर देखें तो हजारों की तादाद में बने ये स्मारक संख्या के मामले में दुनिया भर में नंबर एक पर आ सकते हैं.

अगर दुनिया के पैमाने पर किसी खास मुद्दे को लेकर स्मारकों की कभी गिनती होने लगे तो शायद स्टोलपेरस्टाइन अव्वल नंबर पर आएंगे.

दरअसल यह प्रोजेक्ट एक अकेले कलाकार गुंटर डेमनिग की कोशिशों का नतीजा है, जिन्होंने पहला ऐसा स्मारक 1992 में कायम किया था, जब आशवित्ज हुक्मनामा के पचास साल पूरे हुए थे, जिसके तहत हिटलर के अनन्य सहयोगी हाइनरिच हिमलर ने यहूदियों और अन्य 'अवांछितों' के निष्कासन के लिए तथा उनके सामूहिक संहार के लिए इस आदेश पर दस्तखत किए थे (1942). डेमनिग ने उस रास्ते को चिन्हित करते हुए कि उनके अपने शहर कोलोन के यहूदियों ने उस दिन रेलवे स्टेशन पहुंचने के लिए कौन सा रास्ता अख्तियार किया था, सिटी हॉल, जहां उन सभी को एकत्रित किया गया था- वहीं पर पहला स्टोलपेरस्टाइन कायम किया.

डेमनिग जो खुद एक यहूदी हैं और आस्तिक हैं, यहूदी धर्म के एक पवित्र कहे जाने वाले ग्रंथ 'तालमुड' (Talmud) की एक उक्ति को उद्धृत करते बताते हैं कि ''एक व्यक्ति पूरी तरह विस्मृत तभी होता है जब उसका नाम विस्मृत होता है.''

गौरतलब है कि पहला स्टोलपेरस्टाइन कायम करने का एक मकसद यह भी था कि उन दिनों जर्मनी में इस बात को लेकर बहस जारी थी कि रोमा लोगों को, जिन्हें उन दिनों युगोस्लाविया से खदेड़ा जा रहा था, क्या जर्मनी में रहने की अनुमति दी जाय या नहीं. आम भाषा में जिप्सी कहलाने वाले ये लोग होलोकास्ट के दिनों में अर्थात यहूदियों के जन निष्कासन एवं उनके नस्लीय शुद्धिकरण के दिनों में भी उसी तरह प्रताड़ना का शिकार हुए थे.

कुछ साल पहले की एक रिपोर्ट के मुताबिक यूरोप के 20 से अधिक मुल्कों के 1,200 से अधिक शहरों में 56,000 से अधिक ऐसे स्मारक बनाए गए हैं. यूं तो इसके विस्तार के पीछे मुख्य तौर पर पीड़ितों के रिश्तेदार हैं, जिनके जरिए इस नस्लीय सफाये की मुहिम में मारे गए तमाम अनामों को कुछ पहचान मिल सके.

हर स्टोलपेरस्टाइन को डेमनिग अपने हाथों से ही बनाते हैं. एक साक्षात्कार के दौरान 70 साल के हो चुके डेमनिग ने इसके पीछे की उनकी समझदारी बयां की थी - 'दरअसल जब आप ऐसे किसी पत्थर के पास रुक जाते हैं, तो वह आप के अंदर इनसानियत की भावना पैदा कर सकता है और दूसरे से जुड़ने के लिए आप को प्रेरित कर सकता है. यह बात बेहद जरूरी है ताकि भविष्य में ऐसा कोई जनसंहार न हो.'

यह पूछा जाना लाजिमी है कि आखिर डेमनिग जैसे एक जुनूनी कहे जा सकने वाले कलाकार, संवेदनशील इनसान की यह परियोजना कैसे मुमकिन हुई। वह बताते हैं कि युवा लोग उनसे तथा उनकी टीम से संपर्क करते हैं और अपने-अपने शहरों में स्टोलपेरस्टाइन लगाने की बात करते हैं? आखिर ये युवा, जिन्होंने न नात्सीकाल देखा, न उसकी प्रताड़नाएं झेलीं, आखिर क्यों ऐसे स्मारकों को कायम करना चाहते हैं कि नात्सीवाद के पीड़ितों की स्मृतियाँ जिन्दा रखी जा सकें. निस्संदेह, डेमनिग से संपर्क करने वालों में हो सकता है यहूदी युवाओं का बहुलांश हो, या उन जिप्सी, रोमा या विद्रोही किस्म के जनतंत्रवादियों के रिश्तेदार हों, जो इस नस्लीय सफाये में मारे गए. लेकिन इस बात को रेखांकित करना जरूरी है कि आखिर आज जब यहूदियों की तादाद खुद जर्मनी में भी काफी घट गयी है, तो ऐसे स्मारकों को लेकर आम स्वीकार्यता क्यों है?

इसे संयोग कह सकते हैं कि स्टोलपेरस्टाइन के बारे में पहली दफा पता लगने के दो दिन बाद बॉन शहर के एक दूसरे हिस्से में, जहां एशियाई लोग तुलना में ज्यादा हैं, किसी होटल में बैठे हुए बेटी की एक सहपाठी एवं उसके अफगानी युवा मित्र से मुलाकात हुई, जो वहां इंजीनियर के तौर पर काम कर रहा था. गपशप के दौरान हम ने स्टोलपेरस्टाइन को लेकर अपने आश्चर्यजनित भावों को उसके साथ साझा किया. उसके लिए भी उन 'स्मारकों' का होना एक सामान्य घटना थी, बॉन से थोड़ा दूर किसी गांवनुमा जगह में उसकी रिहायश थी और उसने हमें यह बता कर और अचंभित कर दिया कि जहां वह रहता था, उस इलाके में भी कई जगह पर ऐसे स्टोलपेरस्टाइन लगे हैं. मैंने उससे पूछा कि क्या गांव में या आसपास के इलाके में कोई यहूदी परिवार अभी बचे हैं. 'नहीं'! अधिकतर तो उन्हीं दिनों यातना शिविरों में ही भेजे गए, बाकी बचे दो तीन परिवार वहां से निकल गए.

यह बेहद असामान्य घटना लगी कि अतीत की अपनी गलतियों का प्रायश्चित करने के लिए समाज कितना प्रतिबद्ध है, समर्पित है. बरबस, अपनी आंखों के सामने बीसवीं और इक्कीसवीं सदी के इन दो दहाइयों में देश-दुनिया में हुए तमाम जनसंहारों की तस्वीरों का एक कोलाज उभरा और यह सोचने लगा कि क्या किसी अलस्सुबह इस बात की कल्पना की जा सकती है कि इन तमाम जगहों, स्थानों पर जहां किसी को मजहब के नाम पर, किसी को नस्ल के नाम पर तथा किसी को वर्गीय या जातीय नफरत के तहत सामूहिक कत्लेआम का शिकार बनाया गया हो, वहां ऐसे स्मारक बन सकेंगे, ताकि इंसानियत एक दूसरे को याद दिला सके कि ऐसी हिंसा अब और नहीं! ❑

बस्ती बस्ती परबत परबत

बाउल गायकी की राजधानी केंदुली की ओर..

❑ जितेन्द्र भाटिया

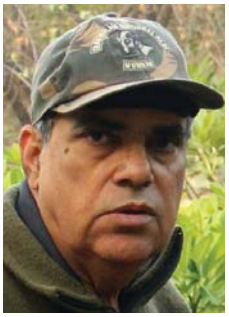

पश्चिम बंगाल का बागडोगरा हवाईअड्डा और इससे सटकर फैला सिलीगुड़ी शहर एक तरह से दार्जीलिंग, असम, सिक्किम और भूटान का सिंहद्वार है, जहाँ से इनमें से किसी भी स्थल तक स्थानीय जीपों और कारों द्वारा कुछ ही घंटों के फासले से पहुंचा जा सकता है. अकेले दार्जीलिंग में साढ़े तीन लाख स्थानीय और 30 हज़ार विदेशी पर्यटक हर साल जाते हैं. दूसरे स्थानों और सिक्किम या भूटान जाने वाले पर्यटकों के जोड़ने के बाद यह संख्या और बढ़ जायेगी. स्टेशन से सटकर बने बिहारी या बंगाली ढाबों की कतार में पारंपरिक बंगाली भोजन के अलावा अब पर्यटकों की रुचि के मुताबिक़ तंदूरी रोटी और पिज़्ज़ा-बर्गर भी मिलने लगा है, लेकिन उसके स्वाद में भी आपको सरसों के तेल का एक अनकहा बंगाली स्वाद मिलेगा, हमारे देश-भर में व्याप्त 'इंडियन चायनीज़' की तरह!

भारतीय मध्यवर्गीय पर्यटक की तयशुदा मानसिकता के चलते आज नैनीताल से दार्जीलिंग और महाबलेश्वर से शिमला तक किस भी लोकप्रिय पहाड़ी पर्यटक स्थल के बीच फर्क करना मुश्किल हो चला है. हर जगह उसी 'पैसा वसूल' करने की नीयत से आये खोमचे वालों/फेरी वालों के हुजूम और बसों से लेकर नावों या घुड़सवारी अथवा केबल कार में चढ़ने, बगीचे का टिकट खरीदने या होटल में कमरा पाने के इच्छुक लालायित चेहरों की लम्बी कतारें! और इन सबसे आगे हर जगह लापरवाही से फेंके जाते चिप्स, नमकीन, बिस्कुट, और पान मसाले के प्लास्टिक/पन्नी/खाली पाउच के अथाह बदसूरत अवशेष!

अम्बानी साहब की कंपनी ने भले ही पिछले साल के मुकाबले अपने मुनाफे में आश्चर्यजनक वृद्धि कर ली हो, लेकिन उनके स्वचालित पेट्रोकेमिकल कारखानों से दिन रात उगला जाने वाला यह प्लास्टिक एक दिन अपने साथ समूचे देश को ले डूबेगा. दार्जीलिंग या सिक्किम की चिल्ल-पों वाली ट्रैफिक से पटी सड़क से दूर, सिलीगुड़ी के पूर्वी बाईपास और बैकुंठपुर जंगल में शाल के खूबसूरत पेड़ों से गुज़रते हुए आप गाजोलडोबा पहुंचेंगे. यहाँ तीस्ता के पानी को बराज से बांध दिया गया है.

बाँध के पानी से डूबा क्षेत्र गाजोलडोबा है जहां खुले मौसम में पानी के पीछे सुदूर कंचनजंघा की बर्फ से ढँकी चोटियाँ किसी तिलिस्म की तरह दिखाई दे जाती हैं. यहाँ के उथले पानी में चप्पुओं की पारंपरिक नाव में समय जैसे ठहरा हुआ सा है. सर्दियों में दूर-दराज़ से आए पक्षियों का कलरव जलकुम्भी के झुरमुटों से उभरता है.

यह 'दीदी' का ख़ास इलाका है, जहां एक बहुत बड़े पर्यटक केंद्र का नक्शा तैयार हो रहा है, जिसमें दूसरी चीज़ों के अलावा एक नौ कोर्स का गोल्फ मैदान भी होगा. निजी कंपनियों के पर्चे दाखिल किए जा चुके हैं और देखा जाए तो विकास के इस भव्य मास्टर प्लान को सुदूर देशों से उड़कर गाजोलडोबा आने वाले इन निरीह पक्षियों के लिए खतरे की घंटी भी समझा जा सकता है.

लाल सिर वाली पोचार्ड बत्तखों को नज़दीक से दिखाने के लिए हमारा नाविक रहीम अपने चप्पुओं को रोक देता है और हमें भी बिना हिले-डुले नीचे झुकने के लिए कहता है. लेकिन ज़रा सी सरसराहट से ही पक्षियों का सारा झुण्ड उड़ जाता है और हमारे भारी कैमरे धरे के धरे रह जाते हैं. मनुष्य की हर छोटी बड़ी हलचल को संदेह से देखने वाले इन पक्षियों के चित्र लेने के लिए असीम धैर्य और स्थिरता की ज़रुरत है. हम शहर वासियों में इन दोनों ही गुणों की भारी कमी है.

आखिरकार थककर हम उपकरण एक ओर रख देते हैं तो हमारी तफरीह को महसूस करते हुए रहीम नाव घुमा लेता है. रहीम के पुरखे तीस्ता नदी में नाव चलाते थे. उसे पानी से ख़ास लगाव है और वह सारा जीवन इसी नाव पर धीमे धीमे चप्पू चलाए व्यतीत कर सकता है. गाजोलडोबा का यह इलाका लातिन अमरीकी लेखक रोसा की अमर कहानी 'नदी का तीसरा किनारा' की याद दिलाता है, जहां जलकुम्भी के झुरमुटों के पीछे सारी उम्र किसी नाव में बैठे हुए काटी जा सकती है.

अपने कैमरे संभाले हम नाव से उतरते हैं तो किनारे पर एक बूढ़े की आवाज़ में तैरती कोई परिचित लम्बी तान हमें चौंका देती है. वह तान किसी पहेली की तरह बेहद पहचानी हुई है, लेकिन उसके आगे के शब्द और उनमें गुंथी धुन बिलकुल अलग है. नहीं, यह सचिन देव बर्मन की भटियाली नहीं है. फिर ऐसा क्या है इसमें, जो बरबस हमें किसी भूले हुए अतीत की ओर खींचे लिए जाता है?

बूढ़ा अपना दोतारा हमें दिखाते हुए बताता है कि यह लालन फ़क़ीर का एक पारंपरिक बाउल गीत है–'आमी एकटा आसोल पागोल पेलाम ना, शेई जोन्ने आमी पागोल होलाम ना 'बीरभूम के केंदुली गाँव के 'टोहोल' (भिक्षा) पर निकले फकीरों से लेकर बांग्लादेश के मल्लाह तक सब इस गीत को दोतारे पर 'खोमोक' के साथ बजाकर गाते हैं. हम बूढ़े को एक बार फिर उस गीत से पहले की तान को छेड़ने के लिए कहते हैं तो अचानक याद आ जाता है कि यह वही तान है, जिसके एक हिस्से का इस्तेमाल शंकर जयकिशन ने रफ़ी की आवाज़ में फिल्म 'श्री चार सौ बीस' के गीत 'रमैया वस्तावैया' के अंत में किया है और जिसे उस वक्त हम 'हीर' की धुन समझने की भूल कर बैठे थे...। बूढ़े की कंपकंपाती आवाज़ में उस गीत को सुनना उस पूरी तान के वास्तविक स्रोत तक पहुँचने की तरह विस्मयकारी है...।

मछुआरों की भटियाली और फकीरों के बाउल गीतों का इस धरती के साथ एक अनाम रिश्ता है. मुझे याद आता है, अजय नदी के

किनारे बसा छोटा सा उनींदा केंदुली गाँव, जो माघ की पहली पूर्णिमा के दिन अचानक जैसे किसी लम्बी नींद से जाग उठता है. प्रदेश के बूढ़े और नौजवान बाउल गायक यहाँ हर साल लगने वाले केंदुली जयदेव मेले के लिए दूर दराज़ से इकट्ठे होते हैं.

केंदुली बारहवीं शताब्दी में 'गीत गोविन्द' की रचना करने वाले कवि जयदेव का जन्म स्थल भी है और यह मेला पुरातन काल से उन्हीं के नाम से जाना जाता है. जयदेव का बाउल से आखिर क्या रिश्ता था? शायद बहुत कुछ, शायद कुछ भी नहीं! जयदेव उस समय के राजा लखन सेन के दरबार में राज्य कवि थे. बाउल इतिहास के जानकार अमित गुप्ता कहते हैं कि जयदेव के समय से भी पहले उस प्रदेश में बाउल लोकप्रिय थे और जयदेव स्वयं इसके गायकों और गीतकारों को न सिर्फ सम्मान देते थे, बल्कि उन्होंने राज्य स्तर पर इसे लोकप्रिय बनाने में काफी योगदान दिया था.

केंदुली की बाउल गायकी के साथ जयदेव का नाम तब से ही जुड़ा है. केंदुली में ही स्थित है वहां का प्रसिद्ध राधा विनोद मंदिर, जिसे प्रदेश की महारानी ने जयदेव की मृत्यु के कोई दो सौ साल बाद बनवाया था और जहां आज भी आपको राधा कृष्णा की मूर्तियों के साथ-साथ उसी सम्मान के साथ जयदेव और उनकी पत्नी की मूर्तियाँ भी मिल जाएँगी.

बाउल एक तरह से पश्चिमी बंगाल और बांग्लादेश की साझी संस्कृति का भी एक अभिन्न हिस्सा है. इस ओर के गायक एक अरसे तक एकतारे के साथ बाउल गाते थे, जिन्हें बांग्लादेश के गायकों ने दोतारा बनाना और बजाना सिखाया. आज इसमें कई और वाद्य यंत्र जुड़ गए हैं और शहरी बाउल गायन में तो बांसुरी और हारमोनियम ही नहीं, सिंथेसाइज़र का प्रयोग भी होने लगा है.

केंदुली एक तरह से बाउल गायकी की राजधानी है, जहां मेले की रात, देर तक तानों, दोतारे की लय और खोमोक तथा 'आनंद लहरी' एवं 'गबगुबी' के साथ गायकों को झूमते देखा जा सकता है. इसकी लय में आपके पैर खुद बखुद नाचने लगेंगे. जानकार कहते हैं कि इस गायकी को सिखाया नहीं जा सकता, यह आपके भीतर से स्वयं फूटकर बाहर आती है. यह प्रेम एवं बन्धुत्व के अलावा किसी धर्म, किसी सम्प्रदाय को नहीं मानती.

इसका 'सहजिया' पंथ बहुत सादा मगर फिर भी एक मुश्किल रास्ता है, जिसके ब्रह्माण्डवाद में ईश्वर को एक आराध्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता. बाउल मानता है कि मनुष्य अपने आप में ही अंतिम सत्य है, इसके शरीर के तत्वों को समझना ही सत्य को पाना है. इसीलिए बाउल एक गीत से अधिक एक मानसिक अवस्था, एक मनःस्थिति है, जिसका कभी अंत नहीं होता, जहाँ संगीत और शब्द अपनी स्वयं की खोज में निरंतर कुछ ढूंढते नज़र आते हैं...।

धूप के चढ़ने के साथ ही हमें भूख लग आयी है. रहीम हमें तीस्ता के किनारे बने छोटे से झोंपड़ीनुमा ढाबे में लिए चलता है, जहाँ हमारा इंतजार कर रही है दाल-चावल के साथ सरसों के तेल में तली स्वादिष्ट मछली बोरोली! रहीम बताता है कि बड़े बड़े जालों से बोरोली और चपिला मछलियाँ ट्रकों में भर भरकर सिलीगुड़ी और वहां से दूसरी जगहों तक पहुंचाई जा रही हैं, जिसके चलते बंगालियों द्वारा बेतरह पसंद की जाने वाली तीस्ता की ये दोनों ख़ास मछलियाँ आज विलुप्त होने की कगार पर हैं. पक्षियों और मछलियों के विनाश के बाद शायद अगला अधिक बड़ा संकट यहाँ के जल पर आने वाला है. नदी पर बने बांधों के कारण तीस्ता का पानी पहले से बहुत कम हो गया है.

तीस्ता से मिलते-जुलते नाम वाली दूसरी नदी तितास है, जो त्रिपुरा से निकलकर बांग्लादेश में मेघना नदी से मिलती है. इसी नदी के तट पर पले-बढ़े बंगला लेखक अद्वैत बर्मन ने यहाँ रहने वाले गरीब मल्लाहों के जीवन पर अपना चर्चित उपन्यास 'तितास एकटी नदीर नाम' लिखा था, जो उनकी मृत्यु के पांच वर्ष बाद प्रकाशित हुआ था और जिस पर अपने जीवन के अंतिम कालखंड में ऋत्विक घटक ने एक यादगार फिल्म बनायी थी.

भारत की आर्थिक मदद से मेघना और तितास नदियों पर बने रेलवे पुलों को पार करती बंधन एक्सप्रेस अब सियालदह, कोलकाता से बांग्लादेश के खुलना शहर तक हर रोज़ दौड़ती है. यह भी एक विडम्बना है कि मेघना और तितास नदियों को, जहाँ दोनों देशों के बीच मित्रता का प्रतीक समझा जाता है, वहीं गाजोलडोबा बराज से गुज़रती तीस्ता का जल भारत और बांग्लादेश के बीच कलह का सबसे बड़ा कारण है.

भारतीय धरती पर स्थित बांधों से गुज़रती तीस्ता, सिक्किम से उत्तरी बंगाल होती हुई बांग्लादेश और उससे आगे अंततः ब्रह्मपुत्र में मिलती है. गाजोलडोबा में बराज के उस ओर अब पानी लगातार कम होता जा रहा है और बांग्लादेश के लोग पानी के इस अनुचित बंटवारे से बेहद असंतुष्ट है. फ़िलहाल भारत इसके पानी का आधे से अधिक हिस्सा बांधों के ज़रिये खींच लेता है, जबकि बांग्लादेश की मांग है कि उसे तीस्ता के पानी में बराबरी का हिस्सा मिले. लेकिन पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी अपने हिस्से के पानी की एक बूँद भी छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं. लिहाजा यथास्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है. देखा जाए तो नदियों के जल का बंटवारा आजकल सम्बंधित प्रदेशों, राज्यों और देशों के बीच की राजनीतिक आबोहवा को भी निर्धारित करने लगा है, फिर चाहे वह कर्नाटक और तमिलनाडु हो या बांग्लादेश, भारत अथवा हमारा पड़ोसी देश चीन.

ब्रह्मपुत्र नदी एक लम्बे अरसे से भारत और चीन के बीच तकरार का मुद्दा रही है. चीन में विश्व की 20 प्रतिशत आबादी रहती है, जब कि वहां मीठे पानी के स्रोत मात्र 7 प्रतिशत हैं. यही नहीं, वहां के मीठे पानी के प्राकृतिक स्रोतों का एक बड़ा हिस्सा तिब्बत में है. इस प्रदेश के पानी को सारे देश तक पहुंचाने के लिए चीन ने तिब्बत से निकलने वाली नदी यारलुंग त्सांगपो (ब्रह्मपुत्र) पर बेहिसाब बाँध बना डाले हैं, जिससे भारत और बांग्लादेश पहुँचने वाले नदी के जल में न सिर्फ कमी आयी है, बल्कि इसकी अनियमितता से कभी सूखे तो कभी बाढ़ का संकट काफी बढ़ गया है. ब्रह्मपुत्र का जल बेहद महत्वपूर्ण है, क्योंकि हमारे देश में नदियों के जल का 29 प्रतिशत ब्रह्मपुत्र से आता है और बिजली बनाने वाली हाइड्रोपॉवर योजनाओं में से 44 प्रतिशत का भविष्य भी इसी नदी और इसकी विभिन्न धाराओं से जुड़ा है.

दुर्भाग्यवश भारत और चीन के बीच ब्रह्मपुत्र के पानी के बंटवारे का कोई समझौता नहीं है, लेकिन फिर भी चीन ने दोनों देशों के साथ एक समझौता ज्ञापन पर हस्ताक्षर किए हैं, जिसके अंतर्गत चीन की ज़िम्मेदारी है कि वह नियमित रूप से नदी के पानी के इस्तेमाल सम्बन्धी समस्त आंकड़े भारत और बांग्लादेश के साथ बांटे, ताकि वे इसके आधार पर अपनी योजनाएं बना सकें. लेकिन डोकलाम के विवाद के बाद से ही चीन ने भारत को ये आंकड़े उपलब्ध कराना बंद कर दिया है. दृष्टव्य यह भी है कि चीन ये आंकड़े बांग्लादेश को अब भी निरंतर दे रहा है. हालाँकि चीन ने आधिकारिक स्तर पर इसे आंकड़े इकट्ठे न कर पाने की असमर्थता कहा है, लेकिन जानकार चीनी सूत्र कहते हैं कि 'चीन एक ज़िम्मेदार देश है। जब कोई (भारत) हमारी ज़मीन की संप्रभुता को ही नकार रहा हो, तब ये आंकड़े कैसे दिए जा सकते है!' ज़ाहिर है कि पानी पर यह घमासान आने वाले दिनों में किसी बड़े युद्ध का कारण भी बन सकता है.

सुदूर अरुणाचल में लोहित नदी पर स्थित अरुणाचल प्रदेश का सबसे पूर्वी गाँव डोंग है, जिसका ज़िक्र हम एक बार पहले भी कर चुके हैं. यहाँ से लोहित नदी चीन से भारत में प्रवेश करती है. नदी के चीनी हिस्से पर कई बाँध बन चुके हैं और दोनों देशों के बीच समझौता ज्ञापन के बावजूद पानी के रोकने या छोड़े जाने की कोई जानकारी चीन नहीं देता, जिसके चलते लोहित का पानी कब सूख जाएगा और कब चीन अचानक बहुत सा पानी छोड़कर हमारे यहाँ बाढ़ की स्थिति पैदा कर देगा, कुछ कहा नहीं जा सकता. इस स्थिति से निबटने के लिए सरकार ने पानी अधिकारी बूढ़े दास बाबू को वहां चौबीसों घंटे पानी का तल मापने वाले यंत्रों के साथ ड्यूटी पर बैठा रक्खा है, जहाँ वे घंटे दर घंटे पानी का तल मापकर ये आंकड़े तिनसुकिया के बड़े दफ्तर भेजते रहते हैं.

हम वोलोंग गाँव से जीप में सूरज के ढलने के आसपास वहां पहुंचे थे और अँधेरा घिर चुकने के बाद अब रात वहीं गुज़ारने के सिवा कोई चारा हमारे पास नहीं रह गया था. दास बाबू शर्मिंदा थे कि उनके पास हमें देने के लिए बिस्तर तक नहीं था. इलाके के सहृदय फ़ौज वालों की मदद से हमें नज़दीक के मिलिट्री डिपो से 'स्लीपिंग बैग' उधार मिले तो दास बाबू ने एक बंद कोठरी खोलकर हमारे लिए खुद ताज़ा दाल चावल बनाए. फिर वे पानी के माप की सरकारी बहियों के बीच हमें देर रात तक अपने एकाकी जीवन की कहानियां सुनाते रहे.

अलस्सुबह चलने से पहले हमने नदी के खूबसूरत तट को देखा, तो दास बाबू ने मुस्कराकर कहा कि इन्हें कैद कर लीजिये, ये देश पर गिरने वाली सूरज की पहली किरणें हैं. यहीं से कुछ आगे मशाई के पास सीमा सड़क संस्थान का बोर्ड लगा था—भारत की सबसे पूर्वी सड़क!

जिस तरह ब्रह्मपुत्र असम को उत्तरी और दक्षिणी हिस्सों में काटती है, कुछ उसी तरह लोहित पूर्वी अरुणांचल प्रदेश को दो भागों में विभक्त करती है. लोहित नदी के सुदूर तटों के अलावा भी उत्तरांचल प्रदेश काफी बड़ा है और इसके पश्चिमी इलाकों को छानने का हमारा सफ़र अभी बाकी है. चीन एक अरसे से इस सारे प्रदेश को अपना बताता रहा है और इस संघर्ष के चलते पूरे प्रदेश में सेना की भारी मौजूदगी है. यह मौजूदगी चीन की सीमा से सटे इलाकों में तो पागलपन की हदों तक पहुँच जाती है.

डोंग तक की हमारी यात्रा पूर्व नियोजित नहीं थी और हम पहले वोलोंग से ही वापस लौट जाने वाले थे. कुछ दुर्लभ पक्षियों की तलाश हमें यहाँ तक खींच लायी थी और अब वहां से लौटते समय हमारे पास खाने के लिए कुछ भी शेष नहीं बचा था. उत्तर पूर्वी इलाकों में कम से कम 'मेगी' या 'वाई वाई' के नूडल छोटे से छोटे ढाबे या खोखे पर भी मिल जाते हैं, इसीलिए हम भोजन को लेकर ज्यादा चिंतित नहीं थे. लेकिन जब सामने वाले हिस्से में दुकान चलाने वाले तीन चार घरों में चीनी चेहरे वाले बाशिंदों और औरतों ने शिद्दत से सिर हिलाकर हमें चले जाने को कहा तो आश्चर्य होना स्वाभाविक था. बाद में पता चला कि वहां अजनबी चेहरों को (जो चीन के जासूस भी हो सकते थे) भोजन खिलाना फ़ौज वालों से दुश्मनी मोल लेने के बराबर था और यह खतरा कोई भी नहीं उठाना चाहता था.

हमने सुबह से कुछ नहीं खाया था. जब भूख बर्दाश्त के बाहर हो गयी तो एक फौजी डिपो के बाहर खड़े बंदूकधारी सिपाही से हमने खाने के लिए कोई जगह पूछने का इरादा बनाया. वह सिपाही कुछ भी कहने की जगह हमें वहीं छोड़ भीतर चला गया. कुछ मिनटों के बाद वापस लौटने पर उसने जीप को वहीं छोड़ हमें भीतर कमांडेंट से मिलने को कहा. कमांडेंट जौनपुर का एक बाशिंदा था, जिसका हाल ही में वहाँ तबादला हुआ था. उसने हमें बताया कि कहीं बाहर भोजन ढूंढना बेकार है, क्योंकि यहाँ लोग फ़ौज वालों से बहुत डरते हैं. कमांडेंट ने डिपो के तीन चार अन्य साथियों के साथ हमें न सिर्फ लंच रूम में रविवार के दिन पकने वाला विशेष भोजन खिलाया, बल्कि एक डेढ़ घंटे तक उसने भोजन के साथ जौनपुर, इलाहाबाद और जयपुर के कई व्यक्तिगत अनुभव भी हमारे साथ बांटे. लेकिन भोजन कक्ष में ले चलने से पहले कमांडेंट ने हमें सख्त ताकीद की थी कि हममें से कोई भी यह नहीं पूछेगा कि वे वहां क्या काम करते हैं, क्योंकि इसके बारे में कुछ भी बोलने की उन्हें इजाज़त नहीं है. फ़ौज की इस जवाबदेही के साथ-साथ उसके अत्यंत मानवीय पक्ष को जानना सचमुच सुखद था. भोजन के बाद वे सब हमें बाहर जीप तक छोड़ने के लिए आए और जीप के चल चुकने के बाद भी देर तक उनके हाथ हवा में हिलते रहे.

बाहर से उत्तर पूर्व आने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए वहां के जीवन में ब्रह्मपुत्र के महत्वपूर्ण स्थान को समझना बहुत मुश्किल नहीं है. इसका प्रवाह एक तरह से सड़कों के जाल को निर्धारित करता है. यह नदी एक तरह से पूरे प्रदेश की प्राण शक्ति है.

हमारे यहाँ नदियों के नाम पारम्परिक रूप से स्त्रीलिंग होते हैं, लेकिन एशिया की सबसे बड़ी नदियों में से एक ब्रह्मपुत्र इसका एकमात्र अपवाद है. असमिया भाषा में इसे पुरुषवाचक 'ब्रह्मपुत्र नद' कहा जाता है और असम के बोडो आदिवासी इसे अपने पारंपरिक नाम बुर्लुंग बुथुर से जानते हैं. कई नामों वाली ब्रह्मपुत्र एक तरह से उत्तर पूर्व भारत और बांग्लादेश की तमाम नदियों को अपने भीतर समेटे हुए है.

तिब्बत के आंग्सी ग्लेशियर से निकलने वाली चीनी नदी यारलुंग त्सांगपो जब भारत के

अरुणाचल प्रदेश में प्रवेश करती है, तो इसका नाम बदलकर सियांग हो जाता है और इससे कुछ आगे मैदानों में उतरने पर यह दिहांग हो जाती है. यहाँ से कुछ फासले पर जब दिबांग और लोहित नदियाँ इसमें मिलती हैं तो इसे अपना नया शक्तिशाली नाम ब्रह्मपुत्र मिलता है. असम में अपने प्रवाह के दौरान पहाड़ों की अनेकानेक तूफानी नदियाँ कामेंग, भरेली, मानस, चम्पावती, बूढ़ी दिहिंग, दिसांग, दिखू आदि इसमें आ मिलती हैं. असम में कहीं कहीं तो इसका पाट बरसातों में 8 किलोमीटर तक चौड़ा हो जाता है. हर साल तटों की दिशा बदलता ब्रह्मपुत्र का उद्दंड चौड़ा पाट बाढ़ का एक बड़ा कारण बनता है. इसी ब्रह्मपुत्र पर देश का सबसे लम्बा 9 किलोमीटर का पुल हाल ही में बनकर तैयार हुआ है. और इसी के भीतर दुनिया का सबसे बड़ा नदी द्वीप मजुली फैला है, जो अब एक पूरा जिला है. किसी समय इसका क्षेत्रफल 1250 वर्ग किलोमीटर था जो अब नदी के भूस्खलन से घटकर 350 वर्ग किलोमीटर रह गया है.

बांग्लादेश में ब्रह्मपुत्र में तीस्ता आ मिलती है और इससे आगे नदी दो शाखाओं में बँट जाती है—पूर्वी शाखा यमुना (बांग्लादेश), जिसमें ढाका के नज़दीक मेघना का संगम होता है; और पश्चिमी शाखा, जिसमें दक्षिणी गंगा आ मिलती है और तब नदी का नाम पद्मा हो जाता है. कुछ और दक्षिण पहुँचने पर ये दोनों शाखाएं फिर मिल जाती हैं और अपने अंतिम रूप में मेघना नाम से यह नदी बंगाल की खाड़ी में समा जाती है. पश्चिम में कोलकाता की हुगली नदी से पूर्व में मेघना नदी तक फैला गंगा-ब्रह्मपुत्र का नदीमुख (डेल्टा) सुंदरबन दुनिया में सबसे बड़ा और कदाचित दुनिया का सबसे उपजाऊ प्रदेश है.

ब्रह्मपुत्र और इसकी सहायक नदियों ने इस समूचे प्रदेश को सांस लेने वाले यादगार घने जंगल दिए हैं, जिनके भीतर धूप शायद ही कभी ज़मीन तक पहुँच पाती होगी. जल, आर्द्रता और धूप की ऊष्मा पता नहीं कितनी सदियों से इन जीवित जंगलों में विलक्षण पेड़ों, जीवों, पक्षियों, साँपों, तितलियों और कीड़े मकोड़ों को एक प्राकृतिक कवच देती रही है. इस शामियाने तले मनुष्य का प्रवेश इन जंगलों के लिए सबसे बड़ी चुनौती है. प्रकृति जिस विरासत को सदियों से बरकरार रखे हुए है, उसे कुछ ही वर्षों में पूरी तरह नष्ट कर देने की काबिलियत इंसान के पास है. उसके बांधों ने प्रकृति की दिशा को बदल दिया है और खेती के निरंतर दबाव में बहुत से जंगल मीलों तक छंटनी और जलाए जाने के बाद मृत ठूंठों के कब्रिस्तानों में बदल गए हैं. विडम्बना यह है कि इस विनाश को हम विकास की संज्ञा देकर लगातार जायज़ ठहराने की कवायद में जुटे रहते हैं.

गाजोलडोबा के किनारे पर सुनी उस पुरअसर बाउल की धुन में शरीर और इसके इर्दगिर्द सब जगह व्याप्त प्रकृति से सामंजस्य स्थापित करने का 'सहजिया' पंथ निहित था. हम सोचते रहे कि क्या कोई सूरत ऐसी भी हो सकती है कि किसी चमत्कारी अलौकिक क्षण में इंसान की समूची भूमिका प्रकृति की इस हरी चादर और इसकी प्राणदायी नदियों को नष्ट करने वाले खलनायक से बदलकर इसकी रक्षा करने वाले 'टोहोल' पर निकले किसी चिरंतन बाउल गायक-सी सहज और पूरक बन जाए? लेकिन सवाल है कि तब हमारे तथाकथित विकास और उससे जुड़ी हमारी महत्वाकांक्षा, हमारी राजनीति, हमारी अधिग्रहण की अनंत भूख का क्या होगा?

भूटान और भारत की सीमा रेखा पर बहने वाली मानस नदी के दोनों ओर फैला, दुनिया के सबसे खूबसूरत जंगलों में से एक– मानस अभयारण्य, हमें इस सवाल का जवाब देता है. भयानक क्षरण के बाद इस जंगल की रक्षा की जिम्मेदारी उन्हीं स्थानीय आदिवासियों और बोडो प्रतिनिधियों को सौंप दी गयी थी, जिन्होंने कुछ वर्ष पहले इसे तहस-नहस किया था और सत्ता स्थानान्तरण का यह प्रयोग काफी हद तक सफल रहा था. इन्हीं प्रयासों के कारण आज भी इसके गगनचुम्बी पेड़ों की ऊंची डालों पर एक पेड़ से दूसरे पर आश्चर्यजनक छलांगें लगाते हूलोक बंदरों और बेहद बड़े आकार की मलेशियन गिलहरियों के रोमांचकारी करतब देखे जा सकते हैं. हाथियों के झुण्ड यहाँ निर्भीक घूमते हैं और मानस नदी का नीला पानी उसी तरह इसके तट की सुनहरी रेत को दुलारता बहता चला जाता है.

यह कायापलट कैसे हो पाया? मानस के रहस्यमय जंगलों से जो किंवदंतियां और लोककथाएं जुड़ी हैं, उनमें स्थानीय लोगों का गहरा विश्वास है. यह विश्वास उन्हें एक धरातल पर जंगल को बचाने की प्रेरणा और प्राणशक्ति भी देता है. इनमें सबसे व्यापक और प्रचलित कथा 'मानस की बेटी' की है, जो जंगल की रक्षक है. लोगों के अनुसार यह श्वेत परिधान वाली एक स्त्री है, जिसे सचमुच देखने का दावा कई लोग कर चुके हैं. उनका कहना है कि यह देवी हमेशा जंगली हाथियों के झुण्ड के साथ रहती है और वे हाथी किसी बच्चे के तरह उसे अपनी माता समझकर उसके पीछे चलते और उसका हर कहा मानते हैं. कुछ का कहना है कि ये जंगल उसी मानस देवी ने बनाए हैं और वही उनकी संरक्षक हैं. ये लोग यहाँ जंगल के जानवरों या इसके वृक्षों को मारने या नष्ट करने वालों पर आयी भयानक विपदाओं और दुष्परिणामों का ज़िक्र भी करते हैं. कुछ अन्य धार्मिक लोग उसे शिव की पुत्री साँपों की देवी मनसा से जोड़ते हैं. साठ के दशक में हाथियों को पालतू बनाने वाले ट्रेनर कुमुद कुमार चौधुरी कहते हैं कि सफ़ेद परिधान वाली वह स्त्री सचमुच थी और एक बार उन्होंने उसे बहुत नज़दीक से देखा था, वह मनुष्यों की भाषा नहीं समझती थी और उन्होंने जब उसे भोजन देने की कोशिश की थी तो उसने इनकार कर दिया था. मानस की वह देवी सचमुच थी या नहीं, यह सवाल दीगर है. बल्कि यह सवाल लातिन अमेरिकी साहित्य के जादुई यथार्थ की याद दिलाता है, जहाँ एक किंवदंति वास्तविक यथार्थ को एक ऐसे जादुई यथार्थ से जोड़ती है, जो है नहीं, पर जिसे अवश्यम्भावी तौर पर होना चाहिए! इन अर्थों में श्वेत परिधान वाली उस वन देवी का अस्तित्व उस शाश्वत कामना से जुड़ा है कि जंगल हर हाल में बचाए ही जाने चाहिए. मार्क्वेज़ कहते हैं कि उनकी दादी अपनी हर जादुई कहानी इस विश्वास के साथ सुनाती थी कि उन्हें स्वयं उन कथाओं पर यकीन होने लगता था. कुछ इसी तरह यदि सब लोग मानस की उस देवी के अस्तित्व में यकीन करने लगें तो निस्संदेह ये नदियाँ, ये जंगल और ये पेड़ हमारी आने वाली पीढ़ियों के लिए सचमुच बचे रह जाएंगे!

-गांव के लोग

स्मृति शेष

रामचंद्र नायडू
विदूषक कारखाना की आखिरी खिड़की

❑ संतोष कुमार द्विवेदी

वरिष्ठ सामाजिक कार्यकर्ता, पत्रकार, संपादक और शिक्षक रामचन्द्र नायडू आखिरकार जीवन की जंग हार गए। कोरोना संक्रमण के बाद 6 जून 2021 की सुबह उनका निधन हो गया। इस बज्राघात से दिमाग शून्य है और दिल बैठा जा रहा है। रामचंद्र नायडू के होने और नहीं होने के खास मायने हैं। पिछले 4 दशकों के सक्रिय सामाजिक और रचनात्मक कालखंड की कितनी ही स्मृतियां, कितने ही वाकये आंखों के सामने चलचित्र की भांति घूम रहे हैं।

70 के दशक में दुनिया बदलने का सपना लेकर आदिवासी अंचलों में जाने, टिकने और नए ज्ञान व कौशल से उसे अनुप्राणित करने का जज्बा रखने वाले प्रतिभाशाली युवाओं और कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओं की एक टोली अनूपपुर आई। समाज का यथास्थितिवादी तबका इन युवाओं को पागल, फितूरी और विदूषक समझता था। समाज की इस नजर और नजरिए को हवा में उड़ाने की गरज ही रही होगी शायद कि अमरकंटक तिराहे से थोड़ा आगे चंदास नदी के तीन तरफ से घिरे एक खूबसूरत टापू को खरीद कर जब इन युवाओं ने अपना केंद्र बनाया तो उसका नाम रखा 'विदूषक कारखाना'। समाज जिन्हें पागल, फितूरी और विदूषक समझता था, यहां उनके जैसों के निर्माण की एक फैक्ट्री ही लग चुकी थी, इसके नायक थे दुनू राय, विकास भाई, अरविंद गुप्ता, संजीव घोटगे, समीर बनर्जी, अविनाश देशपांडे, राकेश दीवान, अनंत जौहरी और श्याम बहादुर नम्र।

एक फैक्ट्री, जहां पर नया समाज बनाने का ह्यूमन रिसोर्स तैयार किया जा रहा था । इस क्षेत्र के किसानों, मजदूरों और युवाओं को देश और दुनिया को देखने की नई आंख देने, उससे बरतने, प्रतिरोध करने और सम्मान पूर्वक जीने-खाने के नए तौर-तरीके, नए रंग ढंग सीखने सिखाने का जो सिलसिला चला, उसने तमाम युवकों को प्रेरित और प्रोत्साहित किया । इस कड़ी में 80 के दशक के उत्तरार्ध में नौरोजाबाद से आकर एक नौजवान जुड़ा और

तब तक विदूषक का पिंड नहीं छोड़ा, जब तक कि उसका खुद का ही पिंड समाप्त नहीं हो गया। उस नौजवान का नाम था रामचंद्र नायडू।

उनकी छोटी सी काया में असीमित बल और संभावनाएं थीं। नायडू का विदूषक से संपर्क वर्ष 1986-87 से प्रारंभ हुआ। जब विदूषक की एक टोली ने बीरसिंहपुर पाली और नौरोजाबाद में ट्रेड यूनियनों एवं युवाओं के साथ रचनात्मक गतिविधियां आरंभ कीं। नुक्कड़ नाटक, फ़िल्म और पत्रिकाओं के माध्यम से युवाओं को जागृत और संगठित करने का सिलसिला चला। फलस्वरूप बीरसिंहपुर पाली में एक युवा समूह बना, जिसके माध्यम से रामचंद्र नायडू विदूषक से जुड़े और जुड़ते ही चले गए ।

90 का दशक आते-आते विदूषक की फाउंडर टोली के ज्यादातर सदस्य वापस लौटने लगे। सबसे पहले संजीव घोटगे और समीर बैनर्जी गए। दुनू राय अधिकांश समय दिल्ली रहने लगे। राकेश दीवान जरूर यहां टिकना चाहते थे पर बात नहीं बनी और अंत में एक समय ऐसा आया, जब जो जन जहां से आये थे, वे सब-के-सब एक-एक करके लौट गए। श्याम बहादुर नम्र और अनंत जौहरी ने वहीं से 5 किलोमीटर दूर जमुड़ी में अपना सेटअप खड़ा कर लिया था। ऐसी स्थिति में विदूषक कारखाना (जिसे बड़े-बड़े धुरंधरों ने मिलकर खड़ा किया था) के प्रबंधन, संचालन का जिम्मा अचानक ही परिस्थितियों ने एक निहायत ही युवा कंधों पर ला खड़ा किया, ये कंधे थे रामचंद्र नायडू के।

जैसे-जैसे विदूषक के फाउंडर सदस्य लौटते गए, वैसे ही वैसे विदूषक की गतिविधियां सीमित होती गईं। किंतु एक खिड़की आखीर तक खुली रहीं, जिसका नाम है बाल रंग और बाल पत्रिका 'खिड़की'।

विदूषक कारखाना में स्थाई रूप से रहने वाले रामचंद्र नायडू अब अकेले ही बचे थे। लेकिन जब बाल रंग गतिविधियां बढ़ीं और बाल पत्रिका खिड़की के माध्यम से बच्चों की अभिव्यक्ति को विस्तार मिला, तब बहुत से नए किशोर विदूषक से जुड़े और इनमें से कई ने विदूषक को अपना दूसरा घर बना लिया। उनमें से संजय विश्वास, जहीर अंसारी, माधव रेड्डी, चंद्रशेखर रेड्डी, तौकीर अंसारी, सुरभि जौहरी, चंद्रशेखर सिंह और डॉक्टर आदि प्रमुख हैं।

विदूषक से मेरा जुड़ाव 90 के दशक के आरंभ में ही हुआ। तब मैं मध्य प्रदेश में गांधी विचार के राष्ट्रीय युवा संगठन को विस्तार देने के लिए घूम रहा था। नायडू ने इसे न सिर्फ आधार दिया, बल्कि इन युवाओं को बैठने, बात करने, शिविर एवं सम्मेलन करने का एक अड्डा मुहैया करा दिया। इस दौर में बहुत सारी नई और महत्वपूर्ण गतिविधियों का गवाह बना विदूषक कारखाना। विदूषक का शाही भोजन, जो एक प्रकार की न्यूट्रीटिव खिचड़ी (जिसे चावल, दाल व उपलब्ध मौसमी सब्जियां मिलाकर फ्राई करके कुकर में पकाया जाता था) होती थी। यह यहां का दोनों समय का एकमात्र रुचिकर भोजन था। आप अगर मुझसे पूछेंगे तो मैं कहूंगा कि उससे अच्छा खाना मैंने इस जीवन में नहीं खाया। ये खिचड़ी बनाना भी मैंने वहीं सीखा। विदूषक के शाही भोजन का कुकर बीच में रखकर जब हम सब चारों ओर से अपनी-अपनी प्लेटों में प्याज और नमक लेकर खाने बैठते थे, तब उससे जो तृप्ति और सुख मिलता था, उसकी कोई बराबरी नहीं थी। रामचन्द्र नायडू के साथ मिलकर हमलोगों ने अमरकंटक में राष्ट्रीय युवा संगठन का राष्ट्रीय शिविर किया, जिसमें सर्वोदय की लगभग सभी राष्ट्रीय विभूतियां सिद्धराज ढड्ढा, प्रो. ठाकुरदास बंग, डॉ रामजी सिंह और कुमार प्रशांत सहित देश के 10 राज्यों से लगभग 150 लड़के

लड़कियां शामिल हुए। इस शिविर को सफल बनाने में नायडू ने अपना सब कुछ दाँव पर लगा दिया। वे कर्जे में डूब गए। साल 2 साल लगे हमें वह कर्ज उतारने में।

उसके बाद की कहानी में नायडू का अन्यतम साहसिक प्रेम और विवाह, मुख्यधारा की पत्रकारिता और शेफ़र्श अकादमी पब्लिक स्कूल की स्थापना का वह दौर है, जिसको लेकर बहुत सारे पुराने साथी उनसे नाराज हुए। कोर्ट-कचहरी के चक्कर काटने पड़े, लेकिन उन्होंने हार नही मानी। लोकशिक्षण और बाल शिक्षण से प्राप्त अनुभव के आधार पर उन्होंने जो स्कूल खड़ा किया है, वह आज अनूपपुर के सबसे अच्छे प्राइवेट विद्यालयों में से एक है। उनके अंदर सामाजिक मुद्दों और समस्याओं की गहरी समझ थी तो जनपक्षधरता की प्रबलता भी, जिसका असर उनकी पत्रकारिता में देखने को मिलता था। उन्होंने जो भी काम हाथ में लिया, उसे पूरे मनोयोग से किया। वे कम बोलते थे लेकिन गहराई से सोचते थे और ईमानदारी से उस पर अमल करते थे। एक घनिष्ठ मित्र और सामाजिक आंदोलन के सक्रिय साथी के नाते मैंने उन्हें बहुत नजदीक से देखा है। वे विचारशील, कर्मठ और संवेदनशील कर्मयोगी थे, जिसने समाज परिवर्तन के काम में अपनी जवानी खर्च की।

पता नही यह कहना कितना समीचीन होगा, लेकिन वक्ती तौर पर यह सच है कि रामचंद्र नायडू के नहीं रहने से विदूषक कारखाना की आखरी खिड़की हमेशा के लिए बंद हो गई। यद्यपि इस पर दुनू राय की प्रतिक्रिया बिल्कुल अलग है। उनका कहना है- 'मेरे अनूपपुर छोड़ने के वक्त उसने (रामचंद्र नायडू ने) कहा था, 'आपने गलती की थी कि बड़ों के साथ ही काम किया, उनका दिमाग नहीं बदलेगा। बच्चों के साथ काम करते तो उसका असर ज़रूर देखने को मिलता।' इसलिए खिड़की बंद हुई या नहीं इसका जवाब वही देंगे, जिन्होंने उस खिड़की से झाँक कर बाहर देखा होगा और जिनके मन में परिवर्तन हुआ होगा।'

जो भी हो, यह तो आने वाला समय ही बताएगा। लेकिन उन्हें भुलाया नहीं जा सकता। वे अपने विचारों और कार्यों के लिए हमेशा याद किए जाएंगे। मेरी उन्हें भावपूर्ण श्रद्धांजलि। ❑

'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात'
(तैत्तरेय उपनिषद)

❑ साबिर अली

दुनिया में बिना खाये कोई इंसान नहीं जी सकता। भूख तो लगेगी, चाहे किसी की सरकार बने या आपका धर्म कितने भी खतरे में क्यों न हो। मेरा तो व्यक्तिगत मानना है कि भूख अपने आप में ही एक धर्म है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य एवं कृषि संगठन (UNFAO) की रिपोर्ट की मानें तो 2019 में दुनिया के 69 करोड़ लोग भूखे रहे, मतलब उन्हें भरपेट भोजन उपलब्ध नहीं था। पर इसके जिम्मेदार नेहरू जी नहीं, बल्कि कुछ हद तक हम और आप खुद हैं। जी हां, करोड़ों लोगों की भूख और तड़प के लिए दुनिया का हर वह इंसान कसूरवार है, जो भोजन बर्बाद करता है या गोदामों में रखकर अनाज खराब करता है। जरा दिल पर हाथ रख कर सोचिए, खाना फेंकते वक्त क्या हमने कभी सोचा है कि करोड़ो लोग जो भूखे हैं, हो सकता है यह उन्हीं का हिस्सा हो, जो हम इस वक्त फेंकने जा रहे हैं।

रतन टाटा देश के ही नहीं, दुनिया के जाने माने उद्योगपति हैं। वे कहते हैं कि पैसा भले ही आपका है, पर इससे जुटाये जाने वाले संसाधन केवल आपके नहीं, सारे समाज के हैं। उन्होंने कहा कि जर्मनी एक विकसित तथा औद्योगिक देश है। दुनिया के लोग सोचते होंगे कि वहां के लोग बड़ी शान से रहते होंगे। रतन टाटा ने कहा कि एक बार मैं अपने कुछ मित्रों के साथ हैम्बर्ग स्थित एक रेस्टोरेंट में गया। वहां कई टेबल खाली थी। एक टेबल पर एक युगल बैठा था। वे लोग खाना खा रहे थे। उस टेबल पर दो ही डिश थी। वहीं बगल में कुछ बूढ़ी स्त्रियां भी थीं। हमने देखा कि ये सब लोग अपना खाना खतम कर रहे थे।

चूंकि हमें भूख लगी थी, इसलिए हमारे स्थानीय मित्रों ने हमारे लिए खाने की कई डिश आर्डर कर दीं। हमारे खाने के बाद भी लगभग एक तिहाई खाना हमारी प्लेटों में बच गया। जब हम होटल से निकलने लगे तो उन वृद्ध महिलाओं ने हमसे बात की। उनकी बातों से लगा कि वे हमारे द्वारा बर्बाद किये गये खाने की वजह से बहुत नाराज थीं। मेरे मित्र ने उनसे कहा कि हमने अपने खाने के पैसे चुका दिये हैं, हम कितना खाना छोड़ते हैं, कितना खाते हैं, आपको इससे कोई मतलब नहीं होना चाहिए। वे महिलाएं और अधिक नाराज हो गयीं। उनमें से एक ने तुरंत अपना फोन निकाला और किसी को मिला दिया।

कुछ ही देर में वहां के सामाजिक सुरक्षा संगठन के लोग बावर्दी रेस्टोरेंट में आ पहुंचे। सब कुछ सुनने के बाद उन्होंने हमारे ऊपर 50 यूरो का जुर्माना लगा दिया। हम करते भी क्या? तभी उनमें से एक अधिकारी हमसे कठोर आवाज में बोला कि उतना ही आर्डर कीजिये, जितना आप खा सकें। पैसा भले ही आपका है, लेकिन ये संसाधन समाज के हैं। दुनिया में ऐसे बहुत से लोग हैं, जिन्हें दो वक्त का भोजन नहीं मिल पाता। उस भोजन को बर्बाद करने का आपको कोई हक नहीं है।

फोटो में दिख रहा व्यक्ति जर्मन फुटबॉलर 'मेसुत ओज़िल' है, मैच के दौरान किसी ने उनके ऊपर ब्रेड का टुकड़ा फेंक कर मारा, उन्होंने मैदान से उस ब्रेड के टुकड़े को उठाया चूमा और अपने सर, आंखों से लगाकर मैदान में किनारे ले जाकर रख दिया, क्योंकि खाने की बर्बादी मेसुत ओज़िल के उसूलों के खिलाफ है। दिल को छूने वाली बहुत छोटी-सी घटना है पर सबक छोटा नहीं है। ❑

हेलन केलर
अदम्य संघर्ष की दुर्द्धर्ष गाथा

❑ नितिन ठाकुर

वह नन्हीं बच्ची कुछ कहना चाह रही थी। जितनी कोशिशें करती, उतना ही उसे कोई समझ नहीं पा रहा था। सबसे बड़ी समस्या तो यही थी कि न वह देख पाती थी, न सुन पाती थी। ऐसे में वह अपनी बात समझाए तो समझाए कैसे, और कोई समझे तो समझे कैसे!

घर वाले लाख कोशिश करके भी जब उसकी बात समझ नहीं सके तो वह ज़ोर ज़ोर से रोने लगी। रोते हुए उसने पैर पटकने शुरू कर दिए। अपनी नेत्रहीन और बहरी बच्ची की इस बेबसी के सामने मां बस आंसू बहा सकती थी, पिता उसे सहारा देकर शांत करने की नाकामयाब कोशिश कर सकते थे।

अगर मैं आपको कहूं कि अपनी मामूली सी बात न समझा पाने वाली इसी बच्ची ने आगे चलकर अमेरिका का सर्वोच्च नागरिक सम्मान पाया तो आप कैसा महसूस करेंगे?

आज पूरी दुनिया इस बच्ची को हेलेन केलर के नाम से जानती है। हेलेन, जिसने दुनिया में पहला शख्स होने का गौरव पाया, जिसे अंधे और बहरेपन के बावजूद ग्रेजुएशन की डिग्री मिली। 27 जून 1880 को हेलेन का जन्म एलबामा, अमेरिका में हुआ था। बचपन में सब कुछ ठीक ही था, मगर उम्र के 19वें महीने में एक दिन उसे तेज़ बुखार चढ़ा, जो कई दिनों तक बरकरार रहा। डॉक्टरों ने हेलेन के बचने की उम्मीद छोड़ दी थी, पर फिर चमत्कार हुआ। एक दिन अचानक वह रहस्यमयी बुखार उतर गया, लेकिन अपने साथ हेलेन की देखने और सुनने की ताकत ले गया। अपनी बच्ची के बच जाने की खुशी केलर दंपति को थी, मगर उन्हें मालूम था कि आगे का जीवन अब आसान नहीं रहने वाला है।

वाकई हेलेन की मुश्किलें शुरू हो चुकी थीं। हेलेन धीरे धीरे बड़ी हो रही थी मगर 19 महीने तक उसने दुनिया में फैले रंग देखे थे। हैरत है कि वह उन रंगों को कभी भुला नहीं सकी। एक छोटी बच्ची अचानक देखने और सुनने से महरूम हो जाए तो वह क्या करेगी!

हेलेन परेशान रहने लगी। वह अपनी बात समझा नहीं पाती। बुखार के असर में ठीक से बोल भी नहीं पाती। कोशिश करती पर नाकामयाबी ही हाथ लगती। मां-बाप भी उसके संकेत समझ पाने में असमर्थ थे। हताशा से भरी नन्हीं हेलेन चीखती-चिल्लाती-रोती, मगर आखिरकार थक कर सो जाने के सिवाय उसके पास रास्ता ही क्या था।

हेलेन के माता पिता ने तय किया कि वे अपनी बेटी की लाचारी का कोई समाधान निकालेंगे। वे डॉक्टरों के पास भटकने लगे। शायद हेलेन की किस्मत में ठीक होना नहीं था। अमेरिका के हर बड़े डॉक्टर ने केलर दंपति को निराश ही किया। वक्त बीता और फिर हेलेन की अंधेरी किस्मत में हल्की रोशनी बनकर मिस एनी सुलेवन ने प्रवेश किया। वे एक टीचर थीं और हेलेन जैसे बच्चों को पढ़ने, लिखने, समझने में मदद करती थीं। मिस सुलेवन हेलेन के साथ घुलने मिलने लगीं। उसके साथ खेलतीं, लेकिन हर वक्त उधेड़बुन में रहतीं कि हेलेन को कैसे पढ़ाया लिखाया जाए।

मिस सुलेवन ने हेलेन को शब्द समझाने का एक तरीका खोजा। वे जो भी शब्द हेलेन को बताना चाहतीं, उसकी हथेली पर उंगली से लिखतीं। हेलेन भले ही ये न समझ सके कि शब्द क्या है, मगर वह उंगलियों के हथेली पर घुमाव को महसूस कर सकती थी। गुड़िया यानि डॉल पहला शब्द था, जो उसने सीखा।

एक दिन बाग की सैर करते हुए पानी का नल देखकर मिस सुलेवन को विचार आया कि वह हेलेन को पानी का स्पर्श कराएं और दूसरे हाथ पर पानी लिखें। ऐसा ही हुआ। हेलेन ने पानी को छुआ और अपनी हथेली पर मिस सुलेवन की उंगलियों से वॉटर लिखा जाना महसूस किया। बस, अब क्या था...!

सिलसिला चल निकला। वह रोज़ नए शब्द इसी तरह सीखती जा रही थी। जिज्ञासु प्रवृत्ति की हेलेन का नाता दुनिया से जुड़ने लगा। फिर एक दिन मिस सुलेवन ने हेलेन के हाथ पर लिखा 'सुलेवन लव्स हेलेन'। हेलेन ने उनसे लव शब्द का मतलब पूछा। मिस सुलेवन उसे लव शब्द के मायने बता पाने में असमर्थ थीं। वाकई, जो चीज़ छुई जा सकती थी, उसे तो बताया जा सकता था, लेकिन भावनाओं के बारे में हेलेन को कैसे समझाया जाता। एक दिन हेलेन एक माला में छोटे और बड़े मोती पिरो रही थी। ऐसा कर पाने में उसे परेशानी हो रही थी। वह माला में मोती पिरोना छोड़कर सोचने लगी। अचानक मिस सुलेवन की उंगली को उसने अपने माथे पर पाया। वह समझ गई कि मिस सुलेवन उसे बता रही हैं कि जो प्रक्रिया उसके दिमाग में चल रही है, उसे सोचना कहते हैं। ठीक ऐसे ही प्यार भी एक प्रक्रिया है, जिसे छुआ नहीं जा सकता।

हेलेन को सबकुछ सिखा देने के लिए मिस सुलेवन में अद्भुत इच्छाशक्ति थी। हर दिन वे नए तरीके से उसे कुछ न कुछ सिखातीं। उन्होंने हेलेन को वाक्य बनाना सिखा दिया और

धीरे-धीरे किताब पढ़ने तक ले आईं। वे हेलेन की हथेली पर लिखतीं और हेलन को समझने में देर नहीं लगती। न सिर्फ हेलेन अब लिख रही थी, बल्कि वह हल्का फुल्का बोल भी रही थी। मिस सारा फुलर, जो हेलेन की टीचर थीं, उन्होंने हेलेन को लिप रीडिंग से बोलना सिखाया। वे उसे होंठ छुआकर समझातीं कि वे खुद क्या कह रही हैं। धीरे धीरे हेलेन अलग ढंग से ही सही, लेकिन लिखना बोलना सीख रही थी।

11 साल की हेलेन ने एक कहानी लिखी, जो छपी। बाद में मालूम चला कि वह पहले छप चुकी एक कहानी की नकल थी। हंगामा बरपा। हेलेन को जांच का सामना करना पड़ा। आगे चलकर मालूम हुआ कि दरअसल हेलेन को बचपन में वह कहानी सुनाई गई थी, जो उसके ज़हन में कहीं अटक गई थी। जब उसने खुद ये कहानी लिखी तो उसे अंदाज़ा नहीं था कि ये कहानी उसे सुनाई गई है, न कि ये उसकी अपनी कल्पना की उपज है। इस प्रकरण ने हेलेन का आत्मविश्वास तोड़कर रख दिया। हालांकि जल्द ही उसने मिस सुलेवेन की प्रेरणा पर अपनी आत्मकथा लिखनी शुरू कर दी। 22 साल की उम्र में आई उसकी किताब की कामयाबी अभूतपूर्व थी। उसने अपनी 21 साल की जिंदगी उसमें दर्ज की थी। आज तक उस किताब को पचास से अधिक भाषाओं में अनुवादित किया गया है और बच्चों को सिलेबस में भी पढ़ाई जाती है। यहां तक कि उस पर कई देशों में फिल्म बनी। भारत में भी ब्लैक नाम की फिल्म उससे प्रभावित थी। हेलेन ने जीवन में दस से अधिक किताबें लिखी होंगी और लेखों की तो कोई गिनती ही नहीं है।

साल 1904 में 24 साल की हेलेन ने रैडक्लिफ कॉलेज से विशेष सम्मान के साथ ग्रेजुएशन पूरा किया। वह दुनिया की पहली न सुन पाने वाली, न देख पाने वाली शख्स थी, जो ऐसा कर सकीं। हेलेन ने न सिर्फ अंग्रेज़ी सीखी, बल्कि जर्मन, लैटिन और फ्रेंच में भी महारथ हासिल की। आज भले ही ये आसान लगे, लेकिन यदि हेलेन की आत्मकथा पढ़ी जाए तो पता चलता है कि मिस सुलेवेन और हेलेन ने एक पूरी तपस्या की थी।

हेलेन ने पचीस से ज्यादा देशों में जाकर शारीरिक रूप से अक्षम लोगों की भावनाओं को लोगों तक पहुंचाया। मिस सुलेवेन के साथ उन्होंने करीब चालीस देशों का दौरा किया, जिसमें जापान प्रमुख रहा और वह उस मुल्क के लोगों की पसंदीदा बन गईं। ये हेलेन ही थीं, जो अपने जीवन काल में तकरीबन हर अमेरिकी राष्ट्रपति से मिलीं। चार्ली चैप्लिन से लेकर मार्क ट्वेन तक उनके अच्छे दोस्त थे। हेलेन राजनीतिक तौर पर भी बेहद सक्रिय थीं। वे अमेरिका की समाजवादी पार्टी की सदस्या थीं। उन्होंने मज़दूरों, महिलाओं के पक्ष में और सैन्यवादी मानसिकता के खिलाफ आवाज़ उठाई। जब कभी उनके विचारों का विरोध हुआ तब उनका लेखन खूब तीखा रहा।

साल 1955 में वे भारत आईं। राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद और पं नेहरू से उनकी मुलाकात हुई। इससे पहले वे 1930 में न्यूयॉर्क शहर पहुंचे गुरूदेव टैगोर से भी मिल चुकी थीं। भारत के मैसूर में हेलेन के नाम पर एक स्कूल भी है जिसमें बहरे बच्चों को पढ़ाया जाता है।

हेलेन केलर ने 87 साल की पूरी जिंदगी सिर्फ सीखने और दूसरों को खुशी देने में बिताई। 1 जून 1968 को उनकी मौत बेहद सुकून के साथ नींद में हुई। उन्हें वॉशिंगटन में ठीक उसी जगह दफनाया गया, जहां मिस सुलेवेन की कब्र है। वही मिस सुलेवेन, जिन्होंने 49 सालों तक हेलेन का साथ दिया और अपने आखिरी समय तक उसका हाथ थामे रखा। ❑

कमल टावरी
गमछा लटकाने वाला एक समाजसेवी अफ़सर

एक आईएएस ऑफिसर अपनी ज़िंदगी में इतना कुछ झेल चुका होता है कि पद मिलने के बाद वह अपनी बातचीत से लेकर लोगों तक से मिलने का दायरा बहुत कम कर लेता है. यही वजह है कि बड़ी पोस्ट पर बैठे अधिकारी ज़रूरत से ज्यादा बोलने के आदी नहीं होते.

हमारे देश में ये पुराना चलन रहा है कि जब भी कोई अच्छे कपड़े पहनता है, तो लोग तारीफ में यही कहते हैं कि 'बाबू लग रहे हो.' बाबू मतलब अधिकारी. ऐसे में समझ जाइए कि इनके कपड़े पहनने और उठने-बैठने का क्या ढंग होता होगा. खास बात ये है कि ये आदतें सिर्फ़ नौकरी तक नहीं रहतीं, बल्कि रिटायर होने के बाद भी इन अधिकारियों का रहन-सहन और आदतें ऐसी ही बनी रहती हैं. ऐसे में अगर कोई शख्स आपको खादी का कुर्ता और लुंगी पहने, कंधे पर गमछा रखे हुए मिले और कहे कि वह आईएएस ऑफिसर रह चुका है तो क्या आप मानेंगे? अगर वह अपना नाम कमल टावरी बताए तो आपको मान लेना चाहिए कि वाकई ये साधारण सा दिखने वाला आदमी लंबे समय तक आईएएस ऑफिसर रहा था.

कोई डॉक्टर होता है, कोई इंजीनियर होता है, कोई पुलिस ऑफिसर होता है, तो कोई दुकानदार. इसी तरह हर इंसान की एक पहचान होती है, लेकिन बात जब कमल टावरी की आती है तो उनके लिए उपाधियां कम पड़ने लगती हैं. टावरी साहब एक फौजी भी रहे हैं, आईएएस ऑफिसर के रूप में कलेक्टर भी रहे, कमिश्नर भी रहे, भारत सरकार में सचिव भी रहे, एक लेखक भी हैं, समाज सेवी और मोटिवेटर भी हैं.

एक इंसान खुद में इतनी सारी उपलब्धियां समेटे होने के बावजूद इतनी सादगी से रहता है कि आप उन्हें देख कर विश्वास नहीं कर पाएंगे कि वे 2006 तक कई जिलों के कलेक्टर और कई जगहों के कमिश्नर रहने के अलावा राज्य और केन्द्र सरकार में कई महत्वपूर्ण विभागों के सचिव रह चुके हैं.

-धीरज झा

या इलाही ये माजरा क्या है?

❑ श्रीनिवास

देश में हिंदू आबादी करीब 85% और मुसलिम आबादी मात्र करीब 15% होने के बावजूद हिंदू-मुसलिम विवाह के अनुपात में बहुत अंतर है. क्यों? संकीर्ण हिंदूवादी इसे मुसलमानों की साजिश मानते/कहते हैं. यह कि मुसलिम युवक एक दुष्ट योजना के तहत 'भोली-भाली' हिंदू युवतियों को प्रेम जाल में फांसते हैं, फिर विवाह कर उनका धर्म बदल देते हैं. इसे ही वे 'लव जिहाद' कहते हैं. कुछ मामलों में शायद यह सच भी हो. लेकिन एक तो ऐसे हर प्रेम विवाह के पीछे साजिश और बदनीयती देखना मेरी समझ से सही नहीं है; दूसरे, ऐसी हर हिंदू युवती को मूर्ख या 'भोली-भाली' मान लेना भी गलत और उनका अपमान करना है. मैं ऐसे अनेक जोड़ों को जानता हूं, जिनमें हिंदू युवती ने सोच समझ कर अपनी पसंद से मुसलिम जीवनसाथी चुना; और वे कहीं से मूर्ख या भोली नहीं हैं. इसके उलट उदाहरण भी हैं, यानी मुसलिम पत्नी और हिंदू पति. यहां भी कोई साजिश नहीं. पर यह तो सच है ही कि मुसलिम युवतियों की तुलना में कहीं अधिक हिंदू युवतियां विधर्मी से प्रेम और विवाह करती रही हैं. इसका क्या कारण हो सकता है? मैं एक अनुमान से इसका उत्तर देने का प्रयास कर रहा हूं. कृपया पढ़ कर विचार करने का कष्ट करें.

जरा इस बात पर गौर करें कि हिंदू समाज में जो अंतरजातीय प्रेम विवाह होते हैं, उनमें सवर्ण लड़कियों का; और उनमें भी कायस्थ लड़कियों का अनुपात अधिक होता है. क्यों? इस प्रश्न के जवाब में इस गुत्थी का जवाब है या निहित हो सकता है. मेरी समझ से, जिस समुदाय में खुलापन तुलना में अधिक है, जिस समुदाय की लड़कियों को पढ़ने और नौकरी करने की छूट और सुविधा है, स्वाभाविक ही उस समुदाय की लड़कियों के पास इतर समुदाय के युवकों के साथ समय बिताने, काम करने का अवसर रहता है. इस क्रम में उनमें दोस्ती भी होगी, जो प्रेम में भी बदल सकती है और वे आपस में विवाह करने का फैसला भी कर सकते हैं, करते हैं. तो चूंकि सवर्ण लड़कियां तुलना में उच्च शिक्षा और नौकरी में भी अधिक हैं, बड़े शहरों में अकेली रह कर पढ़ाई करती हैं, फिर नौकरी भी. तो स्वभाविक ही उनके ऐसे रिश्तों में पड़ने की सम्भावना भी अधिक होती है.

अब इसी बात को हिंदू-मुस्लिम प्रेम और विवाह पर लागू करके देखें. पता करें कि अपनी आबादी की तुलना में कितनी मुस्लिम लड़कियां कॉलेज, इंजीनियरिंग, डॉक्टरी या उच्च शिक्षा के अन्य संस्थानों में जाती हैं? कितनी घर से दूर शहरों में अकेली रह कर पढ़ती और नौकरी करती हैं? जाहिर है, हिंदू लड़कियों की तुलना में बहुत कम.

इसके अलावा मुसलिम समाज के अपने अंदर सिमटे होने या अपने मजहब के प्रति अधिक 'कट्टर' होने, पर्दा प्रथा पर जोर आदि के कारण उस समुदाय की युवतियों के पास इतर समुदाय के युवकों से मिलने-जुलने के अवसर ही कम हैं. क्या यह कारण भी नहीं हो सकता कि हिंदू युवक और मुसलिम युवती के बीच ऐसे संबंध कम बनते हैं?

एक बात और है. कोई हिंदू युवती जब किसी मुसलिम युवक से विवाह करती है, तो वह परिवार अमूमन उसका बांहें खोल कर स्वागत करता है. वैसे मैं नहीं कहता कि हर मामले में ऐसा होता है. फिर भी तुलना में उसे असानी से अपना लिया जाता है. सामान्यतया तो उसका धर्मांतरण भी करा दिया जाता है, यानी वह मुसलिम बन जाती है. हालांकि ऐसे भी कुछ उदहारण हैं, जहां उसकी हिंदू पहचान बनी रहती है. कारण चाहे जो हो, उसे वहां उस भेदभाव का सामना नहीं करना पड़ता, जो किसी मुसलिम युवती को हिंदू से विवाह के बाद उस घर में करना पड़ता है. वह पूजा घर में नहीं जा सकती, शायद रसोई घर में भी नहीं. परिवार के सदस्य संभवतः उसके साथ बैठ कर भोजन करने से भी बचते हों.

हालांकि इस सवाल पर रांची के एक युवा शोधकर्ता फरहान ने अपने अनुभव के आधार पर मेरे इस आकलन में सुधार करते हुए कहा : 'यह सही है कि मुसलिम परिवार में हिंदू लड़की/बहू का स्वागत होता है, पर यह भी सही है कि मुसलिम लड़की जब किसी हिंदू या गैर मुसलिम लड़के से शादी करती है, तो वही परिवार अपनी बिटिया से संबंध खत्म कर लेता है.' फरहान के मुताबिक इसके पीछे समाज में कायम पितृसत्तात्मक मान्यता और व्यवस्था ही है. मैं फरहान से सहमत हूं.

फिर भी चूंकि हिंदू धर्म और समाज में धर्मांतरण का प्रावधान नहीं है, यानी जो हिंदू के रूप में पैदा नहीं हुआ, वह हिंदू नहीं बन सकता/सकती, इस कारण गैर हिंदू बहू को हिंदू बना लेने का उपाय नहीं है. ऐसे में एक मुसलिम युवती को बहू के रूप में स्वीकार करना कठिन तो है ही, असम्भव भले न हो. अपवादों की बात अलग है.

वैसे यह मेरा अनुमान ही है. ऐसे मामलों की प्रामाणिक जानकारी नहीं है. कुछ प्रकरण जरूर जानता हूं. ऐसे जोड़ों को जानता हूं, जिनमें मुसलिम से विवाह करने के बाद भी हिंदू युवती हिंदू बनी हुई है, अपने धार्मिक विश्वास के अनुरूप आचरण भी करती है. हमारे परिवार में ही एक ईरानी लड़की बहू के रूप में आराम से रह रही है. किसी का धर्मांतरण नहीं हुआ. हालांकि हमारे परिवार को तो अपवाद ही माना जायेगा.

जो भी हो, इस मामले में असंतुलन तो है. बेशक कुछ मुसलिम धर्मांतरण को यानी गैर मुसलिम को मुसलमान बना लेने को 'शबाब' का काम मानते होंगे, मानते हैं. उनको लगता है कि वे ऐसा करके अपने मजहब का भला कर रहे हैं. इसके लिए वे छल छद्म का सहारा भी लेते हैं. कुछ ऐसे बदनीयत मुसलिम युवा भी होंगे, जो इस मंशा से एक योजना के तहत किसी हिंदू युवती को प्रेम जाल में फंसाते होंगे. मगर अतिवादी हिंदू जिस तरह 'लव जिहाद' को मुद्दा बनाते हैं, उसके पीछे मंशा हिंदू समाज का हित नहीं, एक राजनीतिक एजेंडा ही होता है. किसी हिंदू युवती के किसी विजातीय हिन्दू से विवाह करने पर लड़की का परिवार जब विरोध करता है, जब परिवार की प्रतिष्ठा आहत हो जाती है, तब 'लव जिहाद' पर शोर मचाने वाले कहीं नजर नहीं आते. संभव यह भी है कि उनके परिवार की कोई लड़की, उनकी बहन ऐसा करे, तो वे अपनी बहन का ही जीना हराम कर दें. यानी जैसा फरहान ने कहा-यह पितृसत्ता का भी खेल है.

वैसे भी अंतर्धार्मिक विवाह में सामान्यतः धर्मांतरण लड़की का ही होता है. इसके पीछे वजह पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था है. किसी समुदाय या धर्म में लड़की को अपनी पसंद का जीवनसाथी चुनने का अधिकार ही नहीं है. इसलिए ऐसा नहीं लगता कि इस मामले में जो असंतुलन दिखता है, वह मूलतः मुसलमानों की किसी व्यापक साजिश या योजना के कारण है. ❑

अर्थचर्चा

हमने नाइजीरिया को भी पछाड़ दिया है !

❑ वी. एस. सिंह

भारत ने अब नाइजीरिया को भी पछाड़ दिया है। यह वाक्य आप को हैरान कर देगा कि नाइजीरिया और भारत का क्या मुकाबला कि उसे पछाड़ने का उल्लेख किया जा रहा है। लेकिन हमने जिस संदर्भ में नाइजीरिया को पछाड़ा है, वह संदर्भ है अत्यंत विपन्न लोगों की संख्या और अनुपात का। भारत में गरीबी रेखा से जो जनसंख्या नीचे थी, उसमें 85 मिलियन जनसंख्या की और वृद्धि हुई है। यह कहना है कृषि अर्थशास्त्री डॉ देवेंदर शर्मा का, जो भारत में खेती किसानी और उससे जुड़े आर्थिकी के मामलों के विशेषज्ञ हैं और इस विषय पर अक्सर पत्र पत्रिकाओं में लेख लिखते रहते हैं। उनका यह भी कहना है कि 'कोरोना महामारी की दूसरी लहर के दुष्प्रभाव का आकलन अभी नही किया जा सका है।' इस पर अभी अध्ययन चल रहा है। इसके निदान के बारे में चर्चा करते हुए वे सुझाते हैं कि 'इस गम्भीर विपन्नता की स्थिति से उबरने के लिए दुनिया भर की सरकारों को कम से कम 100 बिलियन डॉलर की रकम विभिन्न योजनाओं में खर्च करनी पड़ेगी, जो फिलहाल अर्थव्यवस्था की स्थिति को देखते हुए लगभग असंभव है। समाज में अमीर गरीब के बीच जो खाई दिनोंदिन बढ़ रही है, उसके असर सामाजिक ताने बाने और अपराध पर भी पड़ेंगे, ऐसा मेरा मानना है।'

सरकार का आर्थिक मॉडल क्या है, यह सवाल सरकार के किसी भी व्यक्ति या समर्थक से पूछिए, वह आप को नेहरू मॉडल, नरसिम्हा राव मॉडल और मनमोहन सिंह मॉडल की हज़ार कमियां गिना जाएगा, पर वर्तमान सरकार की आर्थिक नीति क्या है, इस पर कोई कुछ नहीं बोलेगा। नीति आयोग की नीति की बात कीजिये तो वह निजीकरण का प्रबल पक्षधर है लेकिन निजीकरण किस नीति के अंतर्गत हो, यह वह स्पष्ट नही कर सकेगा। पूरी सरकार और पूरा थिंकटैंक एक अजीब सी नीति और विचार धुँधता की गिरफ्त में है। आज इसी का परिणाम है कि 2016 की नोटबन्दी के बाद से जीडीपी, मैन्युफैक्चरिंग इंडेक्स, आयात निर्यात, रुपये की कीमतें जो गिरना शुरू हुईं, वह अब तक गिर रही हैं। आज हमारी तुलना में बांग्लादेश जैसा एक नया देश बेहतर प्रदर्शन कर रहा है और हम धर्म की पिनक में मदहोश हो, श्रेष्ठतावाद की खोह में सरीसृप की तरह पड़े हुए हैं।

दुनिया भर के देशों में जब से कोरोनाजन्य लॉकडाउन ने लोगों को घरों में बंद कर के उनकी औद्योगिक और आर्थिक गतिविधियों पर रोक लगाई है, तब से उनकी

आर्थिक दुरावस्था से निपटने के लिए, अनेक देशों के केंद्रीय बैंकों ने लगभग 9 ट्रिलियन डॉलर के नोट छापे हैं और उन्हें बाजार में डाला है। इतनी भारी संख्या में नोटों के छापने का कारण यह है कि लोगों तक यह नकदी पहुंचाई जाय, जिससे वे बाजार में इसे खर्च करें, जिससे बाजार में मांग बढ़े और अर्थचक्र चल निकले। आज की स्थिति में बाजार मांग की कमी से जूझ रहा है। उसे गति देना बहुत ज़रूरी है। लोगों के पास, नकदी की कमी हो गयी है, ऐसा नौकरियां जाने और बाजार सहित अन्य क्षेत्रों में आर्थिक मंदी के कारण हुआ है। अब उन्हें अपनी मूलभूत आवश्यकताओं के लिए धन चाहिए तो नकदी धन दिया जा सके, इसलिए सरकारों ने अतिरिक्त मुद्रा छापने पर विचार किया।

इसके अतिरिक्त दुनिया भर की विभिन्न सरकारों ने आर्थिक पैकेज भी अपने अपने देश के लिए जारी किया है। लेकिन इस पर, मोर्गन स्टेनले इन्वेस्टमेंट मैनेजमेंट के चीफ ग्लोबल स्ट्रैटजिस्ट रुचिर शर्मा का कहना है कि, 'महामारी के दौरान सरकार द्वारा जारी किए गए आर्थिक पैकेज, जिसे स्टिमुलस पैकेज भी कहा जाता है, ने गरीबों के बजाय अमीरों का ही अधिक भला किया है और इसका लाभ उन्हें ही मिला है।'

जबकि संक्रमण और संक्रमण जन्य मृत्यु के आंकड़े देखिये तो अधिकतर पीड़ित मध्यम और निम्न वर्ग के ही लोग रहे हैं। यह स्थिति वैश्विक है। रुचिर शर्मा आगे कहते हैं कि, 'स्टिमुलस पैकेज का अधिकांश भाग वित्तीय बाजारों में झोंका गया है, जहां से केंद्रित होकर वह अति समृद्ध लोगों के खजाने में ही गया।'

16 मई के फाइनेंशियल टाइम्स में लिखे एक लेख में रुचिर कहते हैं कि, 'इसी अवधि में अति समृद्ध लोगों की पूंजी में 5 ट्रिलियन से 13 ट्रिलियन डॉलर की वृद्धि हुई है। हैरानी की कोई बात नही कि अमीरों के लिए बाजार में पैसा भरा पड़ा है, पर दुनिया अपने लोगों को महामारी के इस संकट से निकालने के लिए धनाभाव से जूझ रही है।' यह आंकड़ा भारत के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि वैश्विक है।

सबसे बड़ी विडंबना यह है कि यह सब जनता के हित के लिए, जनता को ही दी गयी

मदद के धन को सरलता से अति समृद्ध लोगों की जेब में डालना है । वित्तीय संस्था ब्रूकिंग्स ने अनुमान लगाया है कि दुनिया भर में 144 मिलियन आबादी, वर्ष 2020 में गरीबी रेखा के नीचे आ गयी है। अब अगर केवल भारत की बात करें तो विश्व बैंक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ) के आकलन के अनुसार अपनी जनसंख्या को गरीबी रेखा के नीचे पहुंचाने में भारत ने नाइजीरिया को पछाड़ दिया है। बड़ी संख्या में गरीबी रेखा से नीचे रहने वाली भारतीय जनसंख्या में अब 85 मिलियन आबादी और जुड़ गयी है। कोरोना की दूसरी लहर का आकलन अभी शेष है।

हम अक्सर एक बेहतर अर्थव्यवस्था की ओर वापस लौट जाने की बात करते है, उसकी उम्मीद बंधाते हैं और बार बार अपनी जनता को याद दिलाते हैं कि हम 5 ट्रिलियन की इकॉनमी की ओर बढ़ चलेंगे। पर जब हम यह सब दिलासा भरी बातें कहते हैं तो दुनिया भर में कोरोना ने आर्थिकी को कितना नुकसान पहुंचाया है और उससे उबरने में कितनी पूंजी लगेगी और उसका रोडमैप क्या होगा, इसे या तो भूल जाते हैं या जानबूझकर कर इन जटिल और बेचैन करने वाले सवालों से दूरी बना लेते हैं। संभवतः हम यह भी नहीं समझ पाते हैं कि इस गम्भीर विपन्नता से निकलने और महामारी पूर्व की स्थिति में पहुंचने के लिए दुनिया भर के देशों को कुल 100 बिलियन डॉलर व्यय करने की आवश्यकता पड़ेगी। रुचिर शर्मा इस धनराशि को वैश्विक आंकड़े के रूप में बताते हैं। हमने अब तक कोरोना के स्टिमुलस पैकेज के रूप में जो भी धन व्यय किया है, उसने अपने उद्देश्यों को पूरा नहीं किया है, बल्कि वह रही सही पूंजी भी अति धनिक लोगों के ही पास पहुंच कर एकत्र हो गयी है और इससे आर्थिक विषमता की खाईं और चौड़ी हुई है। हालांकि ऐसा पहली बार नहीं हुआ है कि गरीबों के लिए जारी किए गए आर्थिक पैकेज की रकम गरीबों के पास न पहुंचे और वह पूंजीपतियों के पास ही सिमट जाये। सरकार ने कुछ पैसा ज़रूर गरीबों को उनके खातों और हाथ में दिया, उसका उद्देश्य था कि वे अपनी ज़रूरतों पर खर्च करें, लेकिन स्टिमुलस पैकेज का अधिकांश भाग, लुभावने नाम वाली योजनाओं और कॉरपोरेट को राहत पहुंचाने के नाम पर बाजार में कोई मांग पैदा किये बिना ही पूंजीपतियों के पास पहुंच गया। पूंजी,पूंजी को खींचती है और श्रम शोषित होने को अभिशप्त रहता है। यह सिद्धांत आज भी प्रासंगिक है। पिछले कुछ सालों से सम्पन्न देशों के केंद्रीय बैंक अक्सर जितनी नोटें छापनी चाहिए, उससे अधिक नोटें छापते रहे हैं और उसे बाजार में डालते रहे हैं। पर यह गुत्थी अब भी अर्थशास्त्रियों को समझ में नहीं आयी कि यह करेंसी, जिसे गरीबों में उनकी बेहतरी के लिए सरकार छाप रही है, वह उन गरीबों का जीवन बेहतर किये बगैर, कैसे अति धनिकों की तिजोरी में एकत्र हो जा रही है? आज भी दुनिया भर की सरकारें इस संकट से रूबरू हैं कि वे देश में व्याप्त विपन्नता का कैसे सामना करें। डॉ देवेंदर शर्मा एक रोचक तथ्य बताते हैं। वे कहते हैं कि 'यदि इसी स्टिमुलस पैकेज का कुछ अंश इस मुसीबत की घड़ी में गरीबों तक पहुंच गया होता तो भी यह दुनिया कुछ बेहतर होती। पर ऐसा हुआ क्यों नहीं, यह एक जटिल और गंभीर प्रश्न है।'

यूँ तो अमीर और गरीब के बीच खाईं पहले से ही विद्यमान थी, पर इस महामारी ने इस अंतर को और बढ़ा दिया है। यह अंतर अब बेहद अप्रिय स्तर तक पहुंच गया है। अमेरिका की शोध संस्था इंस्टीट्यूट ऑफ पॉलिसी स्टडी ने एक अध्ययन में बताया है कि खरबपतियों की संयुक्त पूंजी में 44.6% की वृद्धि हुई है। यह एक गम्भीर संकेत है कि विपन्नता के सागर में समृद्धि का यह द्वीप एक खतरनाक बिंदु की ओर जा रहा है। जिस अवधि में खरबपतियों की संयुक्त दौलत में 44.6% का इजाफा हो रहा है, उसी अवधि में 80 मिलियन लोगों की नौकरियां चली गयीं। उनकी रोजी रोटी पर पड़े इस दुष्प्रभाव ने उन्हें अचानक अर्श से फर्श पर लाकर पटक दिया है। आज अमेरिका के 50 अति धनिकों के पास जितनी कुल सम्पत्ति है, वह 150 मिलियन आबादी की कुल पूंजी के बराबर है। यह आज के आर्थिकी का कमाल है। अर्थव्यवस्था के मॉडल का दुष्परिणाम है।

भारत में स्थितियां इसी तरह की हैं। बस संपत्ति के आंकड़े में अंतर है। डॉ देवेंदर शर्मा मूलतः एक कृषि अर्थशास्त्री हैं। वे एक उदाहरण कृषि सेक्टर से देते हैं। वे कहते हैं कि, '2013 के नेशनल सैम्पल सर्वे (एनएसएसओ) के एक आंकड़े के अनुसार, लगभग 50% आबादी, खेती किसानी पर निर्भर है और वह जो कुछ खेती से मिलता है और जो कुछ अन्य स्रोतों से, उस पर गुजर बसर करती है।'

इसीलिए आज देश के किसान पिछले 7 महीने से अपनी नियमित आय के लिए सरकार से मांग करते हुए एक शांतिपूर्ण आंदोलन कर रहे हैं। सरकार ने 2022 में उनकी कृषि आय को दुगुनी करने का वादा भी किया है, पर सरकार को आज तक यह पता नहीं है कि वह इस वादे को कैसे पूरा करेगी। किसान, सरकार के वादे के अनुसार, स्वामीनाथन कमेटी की रिपोर्ट को लागू करने, 5 जून 2020 को बनाये तीनों कृषि कानूनों को रद्द करने और एमएसपी को कानूनी रूप दिए जाने के लिए 26 नवम्बर से संघर्षरत हैं। वे कृषि के कॉरपोरेटीकरण के खिलाफ हैं और देश की कृषि संस्कृति को बचाना चाहते हैं। पर सरकार ने एक शर्मनाक खमोशी अख्तियार कर रखी है।

अक्टूबर 5, 1942 में ऑक्सफोर्ड फैमीन रिलीफ नामक एक गैर सरकारी संस्था का गठन अकाल और अमीर तथा गरीब के बीच बढ़ती खाई का अध्ययन करने के लिए किया गया था। इसे ऑक्सफैम कहा गया। इसमें 20 देशों के अर्थशास्त्री सम्मिलित हैं, जो आर्थिक विषमता पर नियमित अध्ययन करते रहते हैं। इसी ऑक्सफैम ने 'इनैक्विलिटी वायरस रिपोर्ट' के नाम से एक रिपोर्ट जारी की है। इस रिपोर्ट के अनुसार, देश के अरबपतियों की पूंजी में 35% की वृद्धि कोरोना महामारी के दौरान हुई है। ऑक्सफैम ने अपनी रिपोर्ट को सरलीकृत करते हुए कहा है कि देश के 11 अरबपतियों के पास जितनी पूंजी है, उससे देश में 10 साल तक मनरेगा कार्यक्रम चलाया जा

सकता है। यानी उनकी पूरी पूंजी 10 साल के मनरेगा बजट के बराबर है। इसे ऐसे समझें कि शीर्ष में 1% के पास जो सम्पत्ति है, वह निम्न स्तर पर 953 मिलियन लोगों की कुल हैसियत के बराबर है।

महामारी के दौरान ध्वस्त हो रही आर्थिकी को संभालने के लिए दुनिया भर के प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने जनता को नकद धन देने की योजना को लागू करने पर बल दिया। सरकार ने हालांकि रुपये 2000 की रकम किसान सम्मान निधि के रूप में दिया है लेकिन विपन्नता को देखते हुए यह राशि नाकाफी है। कम से कम रुपये 6,000 प्रति माह देने की बात भी विशेषज्ञों की तरफ से कही गयी। पर सरकार ने इसे नहीं माना। जो महामारी में राहत के नाम पर पैकेज दिए गए, वे टैक्स कंसेशन तथा अन्य राहत के रूप में कॉरपोरेट को ही दिए गए। इसका यही परिणाम निकला कि राहत के धन से पूंजीपति ही अधिक समृद्ध हुए।

जनता को दी गयी नक़द रकम कैसे जनता की आर्थिक स्थिति में बदलाव लाती है, इसका एक उदाहरण डॉ देविंदर शर्मा ने अपने लेख में दिया है। दो साल पहले 2018 में एक चैरिटेबल संस्था, फाउंडेशन फ़ॉर सोशल चेंज ने कनाडा की ब्रिटिश कोलंबिया यूनिवर्सिटी के साथ मिल कर एक अध्ययन किया। उन्होंने वैनकोवूर क्षेत्र के 50 गृहरहित लोगों को, कुल 7,500 कनाडियन डॉलर, प्रति व्यक्ति की दर से दिया। उन्होंने इस पर भी नज़र रखी कि वे 50 लोग कहां और किस तरह से यह धन व्यय करते हैं। इसके बेहद आश्चर्यजनक परिणाम सामने आए। इसी तरह के परिणाम अन्य जगहों पर किये गए अध्ययनों में भी आये हैं।

जब गरीबों को नकद धन देने की बात की गयी तो यह भी कहा गया कि यह नक़द धन बेकार ही दिया जा रहा है, गरीब जनता इस धन का सदुपयोग नहीं करेगी और यह रकम वह अनाप शनाप ढंग से खर्च कर डालेगी। यह धारणा न केवल भारत में ही फैल रही थी, बल्कि यही धारणा दुनिया भर के गरीबों के बारे में भी फैलाई जा रही थी। लेकिन जब उपरोक्त अध्ययन किया गया तो उसके सुखद परिणाम सामने आए। जिन लोगों को यह नक़द धन दिया गया, उन्होंने सोच समझकर और अपनी जरूरतों के अनुसार ही खर्च किया और उस धन का दुरुपयोग नहीं किया। उन्होंने जीवन की मूलभूत समस्याओं, रोटी, कपड़ा, मकान के ही मद में इस नकद धन को व्यय किया। यह प्रवृत्ति पूरी दुनिया में किये गए अलग अलग अध्ययनों में सामने आयी। इस व्यय का असर बाजार पर भी पड़ा और बाजार में मांग बढ़ी। इससे अर्थशास्त्रियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि नकदी धन गरीबों में बांटा जाय और उन्हें अपनी मूलभूत ज़रूरतों के अनुसार व्यय करने के लिए प्रेरित किया जाय, तो उन्हें गरीबी के दलदल से खींच कर निकाला जा सकता है। यह मुफ्तखोरी नहीं है और न ही दान है। यह उस तबके को उनके आर्थिक संकटों से निकालने का उपक्रम है, जो महामारी के कारण आर्थिक मंदी का संकट झेल रहा है।

अब सवाल यह उठता है कि सरकार ने जो राहत पैकेज जारी किए थे, उनका क्या लाभ जनता को मिला? कोरोना महामारी की पहली लहर के दौरान सरकार ने 20 लाख करोड़ के राहत पैकेज की घोषणा की। पांच दिन लगातार वित्तमंत्री की प्रेस कॉन्फ्रेंस चलती रही। पर आज इस पर सरकार का कोई भी नुमाइंदा ज़ुबान खोलने को राजी नहीं है कि उक्त राहत पैकेज का लाभ किसे मिला। लोगों को इस महामारी से निपटने के लिए इस राहत पैकेज से कितनी राहत नसीब हुई। सरकार ने केवल घोषणा करने और अपने मन की बात करने तक में खुद को केंद्रित कर रखा है। सरकार ने बजाय गरीब परिवारों को नकद धन देने के, कॉरपोरेट को टैक्स कंसेशन, आर्थिक स्टिमुलस पैकेज, बैंकों में उनके कर्ज़ राइट ऑफ करने और उन्हें उबारने के लिए तरह तरह के बेलआउट पैकेज दिए। पर इन सबसे गरीबों की स्थिति में बहुत फर्क नहीं पड़ा, अलबत्ता कॉरपोरेट की ही पूंजी बढ़ी। यह एक बेहद हैरान करने वाला तथ्य है कि जब आम जनता की आय घट रही है, वे गरीबी रेखा से नीचे जा रहे हैं, उनकी नौकरियां जा रही हैं, उनका जीवनस्तर नीचे गिर रहा है, वे बच्चों की स्कूल फीस नही दे पा रहे हैं, उनका बजट अस्तव्यस्त हो रहा है, उनके मेडिकल खर्चे अनाप शनाप तरीके से बढ़ रहे हैं, तब देश के कॉरपोरेट और उनमें भी सरकार के बेहद प्रिय अम्बानी और अडानी ग्रुप की संपत्तियों में कैसे बेशुमार वृद्धि हो रही है। यही क्रोनी कैपिटलिज्म यानी गिरोहबंद पूंजीवाद है।

सरकार ने हर साल बजट में कॉरपोरेट को बेहद उदारता से धन और वित्तीय राहत दी। बैंकों ने दिए गए ऋणों को रिकार्डतोड़ तरीके से माफ किया। इस पर कुछ मित्र यह कह सकते हैं कि यह माफी नहीं है, बल्कि राइट ऑफ है। यह राइट ऑफ भी एक प्रकार से कर्ज की माफी ही है, और यह शब्द चातुर्य का एक उदाहरण है। पर जब किसानों की ऋणमाफी की बात आती है, उन्हें आर्थिक पैकेज देने की बात आती है तो सरकार से लेकर पूरी कॉरपोरेट लॉबी इसके खिलाफ खड़ी हो जाती है और सत्तारूढ़ दल के कार्यकर्ता इस कदम को मुफ्तखोरी कहने लगते हैं। यदि गरीबों को राहत देना मुफ्तखोरी है तो कॉरपोरेट को राहत देना मुफ्तखोरी क्यों नहीं है? यह कहा जाता है कि जब जनता को अधिक पैसा देंगे या नोट अलग से छाप कर देंगे तो इससे मुद्रास्फीति बढ़ेगी। अर्थशास्त्र के सिद्धांत के अनुसार यह कुछ हद तक सही भी लग सकता है। पर यह उपचार असामान्य परिस्थितियों के लिए है, न कि नियमित अर्थव्यवस्था के लिए। आज हम आर्थिकी के बेहद असामान्य दौर से गुज़र रहे हैं। हमें पूर्वाग्रहों से अलग हट कर एक प्रोफेशनल राय, उपचार और निदान ढूंढना होगा कि हम कैसे इस भयावह आर्थिक दौर से सफलता पूर्वक बाहर निकले। ❑

आभार!

सर्वोदय जगत के इस अंक का प्रकाशन श्रीमती आशा बोथरा, मीरा संस्थान, जोधपुर (राजस्थान) के आर्थिक सहयोग से किया गया है।

इस सहयोग हेतु श्रीमती आशा बहन के प्रति सर्व सेवा संघ आभार प्रकट करता है।

शिक्षा की राजनीतिक आर्थिकी

❑ डॉ. अनिल कुमार राय

राज्य अपनी व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए प्रशासन, सेना, कर-व्यवस्था, उद्योग आदि कई आनुषांगिक उपाय करता है। शिक्षा भी उनमें से एक है। शैक्षणिक उत्पादों का उपयोग वह कार्यालयों, अनुसंधानों, व्यवसायों, उद्योगों आदि क्षेत्रों को गति देने के लिए करता है। चूँकि राज्य शैक्षणिक उत्पादों का उपयोग करता है, इसलिए उसे नियंत्रित भी करता है।

लेकिन शिक्षा क्या सर्वदा से राज्य के ही अधीन रही है? नहीं। राज्यों के उदय के बहुत पहले से दीर्घ काल तक मनुष्य का राज्य-विहीन अस्तित्व रहा है। और, शिक्षा तब से है, जब से मनुष्य अस्तित्व में आया है। अपने सम्मुख फैले विराट प्रकृति के साहचर्य में उसे जानने, समझने और तदनुकूल आचरण करने की आवश्यकता हुई। आवश्यकता उसे अपने जीवन-संघर्ष को सरल बनाने की भी हुई। इसीलिए मनोभावों के संप्रेषण के लिए उसने ध्वनियों की मानक ऋंखला बनाई और अगली पीढ़ी ने उस रूढ़ अर्थ को सीखा। मारक क्षमता बढ़ाने के लिए उसने हथियारों को नुकीला बनाया और अगली पीढ़ी ने वह सीखा। आग की खोज की, शीत से बचने के लिए खाल, छाल आदि का आविष्कार किया, फल-फूलों और कंद-मूलों के गुणों से अवगत हुआ और अगली पीढ़ियों ने यह सब उससे सीखा। मनुष्य लगातार सीखता गया, अनेक बार अपने पूर्वजों से और कई बार अपने अनुभवों से। यह सीख, प्रयोग और आविष्कार ही शिक्षा थी। चूँकि आज की तरह वह किताबों में क़ैद नहीं थी और न ही उसकी निर्धारित पाठ्यचर्या ही थी, इसलिए कई बार सीखने की उन प्रक्रियाओं को शिक्षा मानने में हिचक होती रही है। लेकिन शिक्षा का अर्थ यदि सीखना है तो निर्विवाद रूप से वह शिक्षा ही थी। गौर से देखेंगे तो उसकी पाठ्यचर्या भी दिखाई पड़ जाएगी। उसकी पाठ्यचर्या व्यक्तिगत और कबीले की ज़रूरतें थीं और उन्हीं आवश्यकताओं के पूर्त्यर्थ सीखने-सिखाने का कार्य होता था। लाखों वर्षों के बाद भी विषयवस्तु और पाठ्यचर्या के निर्धारण का आधार वही है। अर्थात अपने मौलिक रूप में शिक्षा व्यक्तिगत और समाजिक हितों की पूर्ति का साधन रही है। यही उसका आधार चरित्र है।

राज्य-स्थापना के प्रारंभिक एवं मध्ययुगीन खंडों में भी शिक्षा, आज की तरह, न तो राज्याधीन थी और न ही राजकीय। भारत में अंग्रेज़ी राज के प्रारंभिक चरण तक वह सामाजिक सरोकारों से निर्धारित और संचालित होती रही। उस समय तक ऐसे विषय नहीं थे और न ही ऐसी पाठ्यचर्याएँ थीं, जैसी आज के विद्यालयों-महाविद्यालयों में दिखती हैं। किसान के बच्चे अपने पूर्व पुरुषों से खेती की शिक्षाएँ पा लेते थे और उसका प्रयोग करते थे। उसी प्रकार पंडिताई, लुहारी, रंगरेज़ी, शस्त्रसंचालन आदि विविध प्रकार के विषय थे, जो उस समय के रोज़गार की ज़रूरतों के हिसाब से निर्धारित हुए थे, लेकिन इन शिक्षाओं के लिए न तो औपचारिक संस्थान थे और न ही औपचारिक पाठ्यक्रम निर्धारित थे, प्रायः परिवार और समाज ही शिक्षण संस्थान हुआ करते थे, जहाँ हुनर के साथ ही नैतिक और सांस्कृतिक शिक्षा दी जाती थी। हुनर, नैतिकता और सांस्कृतिक शिक्षा ही उस समय की ज़रूरत थी। काग़ज़ी शिक्षा की व्यापक रूप से ज़रूरत ही नहीं थी, इसलिए उसका प्रसार भी नहीं था। बहुत सीमित मात्रा में राजकीय या धार्मिक कार्यों में पढ़े-लिखे लोगों की आवश्यकता थी, इसलिए बहुत थोड़े लोगों को पढ़ना सिखाने के लिए व्यक्तिगत या राज्य-संपोषित केंद्र थे। अर्थात अंग्रेज़ों के शासन के प्रारंभिक चरण तक शिक्षा राजकीय नियंत्रण से मुक्त और सामाजिक सरोकारों से अन्योन्याश्रित रूप से संबद्ध थी।

'शिक्षा, शिक्षा के लिए' के नारे की जितनी वकालत कर लें, परंतु हमेशा इसे उपयोगी माध्यम के रूप में इस्तेमाल किया गया। प्राप्त जानकारियों और अर्जित कौशलों का अधिकतर उपयोग आजीविका के क्षेत्र में ही हुआ है। प्रारंभ से ही शिक्षा का यही चरित्र रहा है। पहले शिक्षा राजकीय नियंत्रण से मुक्त सामाजिक सरोकारों से संबद्ध थी, परंतु आज ऐसा नहीं है। आज शिक्षा समाज के नियंत्रण में न होकर राज्य के नियंत्रण में है।

इसका जवाब उत्पादन-प्रक्रियाओं और राजकीय आवश्यकता में ढूँढा जा सकता है। प्राचीन एवं मध्यकाल में उत्पादन-प्रक्रिया औपचारिक नहीं थी। उस समय उत्पादन व्यक्तिगत, पारिवारिक या छोटे समूहों के द्वारा अनौपचारिक रूप से किया जाता था। इसलिए शिक्षा की औपचारिक व्यवस्था की ज़रूरत नहीं थी। प्राचीन एवं मध्यकाल में न तो कार्यालय इतने बड़े पैमाने पर थे और न ही उत्पादन का इतना ज्यादा विस्तार हुआ था। शास्त्र, शस्त्र, कृषि और व्यवसाय - ये ही उपार्जन के प्रमुख क्षेत्र थे। वह भी सीमित मात्रा में। राजकीय अधिकारियों की संख्या भी नगण्य थी। इसलिए थोड़े-बहुत कार्यालयों, अजटिल व्यवसायों और राजकीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए इक्का-दुक्का शिक्षण केंद्रों से काम चल जाता था। अन्य कौशलाधारित उत्पादन भी अत्यंत सीमित थे। शस्त्रास्त्रों, भवनों, कार्यालयों, व्यवसायों आदि कौशलाधारित निर्माण का भी विस्फोट नहीं हुआ था। इन उपार्जन-क्षेत्रों के लिए कामगार को किसी विशेष कौशल-क्षमता में औपचारिक प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक नहीं था। ये क्षेत्र आज की तरह जटिल नहीं थे। इन कार्यों के लिए कुशल कारीगर पारिवारिक प्रशिक्षण-प्राप्त हुआ करते थे और प्रायः व्यक्तिगत परिचय के आधार पर उनकी योग्यता-क्षमता की जानकारी प्राप्त हो जाती थी।

परंतु अंग्रेज़ों के समय से ही धीरे-धीरे उत्पादन-प्रक्रिया औपचारिक होने लगी तथा नियोजन के अवसरों का विस्तार होने लगा। धीरे-धीरे कल-कारख़ाने खुलने लगे, दफ्तर, न्यायालय आदि का विस्तार होने लगा। उन बढ़ते हुए कल-कारख़ानों और दफ्तरों आदि में व्यवस्थित रूप से काम करने वाले कर्मचारियों की बड़ी संख्या में ज़रूरत होने लगी। इस औपचारिक हो गई बड़ी ज़रूरत की पूर्ति अनौपचारिक स्रोतों से नहीं हो सकती थी और न ही व्यक्तिगत परिचय के आधार पर विभिन्न क्षमता वाले कामगारों की इतनी बड़ी संख्या की आपूर्ति हो सकती थी। अर्थात इस बदली हुई

औद्योगिक और कार्यालयी ज़रूरतों की पूर्ति पारिवारिक रूप से प्रशिक्षित कामगार और कर्मचारी नहीं कर सकते थे। न तो दक्षता के आधार पर और न ही संख्या की आपूर्ति के आधार पर। इसलिए औपचारिक विद्यालयों को खोलने की ज़रूरत पड़ी, जहाँ औद्योगिक और कार्यालयी आवश्यकताओं के अनुरूप बड़ी संख्या में लोगों को प्रशिक्षित किया जा सके। इसीलिए 19वीं सदी के मध्य में, जब भारत में आधुनिक औद्योगीकरण का विस्तार होता है, लगभग तभी से यहाँ शिक्षा का भी विस्तार शुरू होता है। 1835 में मद्रास मेडिकल कॉलेज, 1847 में थॉमसन कॉलेज (अब आईआईटी रुड़की), 1870 में फ़र्ग्युसन कॉलेज, पूना, 1875 में अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, 1886 में दयानंद एंगलो वैदिक कॉलेज, लाहौर, 1898 में सेंट्रल हिंदू कॉलेज, काशी आदि की स्थापना हुई। यही वह समय है, जब 1882 में सर विलियम विल्सन हंटर की अध्यक्षता में भारतीय शिक्षा आयोग का गठन किया गया। अभिप्राय यह कि औद्योगिक और कार्यालयी ज़रूरतों के बढ़ने के साथ ही औपचारिक रूप से शिक्षित-प्रशिक्षित करने के अवसर भी विकसित किए गए।

इस समय केवल बड़े पैमाने पर शिक्षण संस्थानों की ही स्थापना नहीं हुई, बल्कि शिक्षण संस्थानों को औद्योगिक और कार्यालयी ज़रूरतों के मुताबिक़ ढाला भी गया। कारख़ाने पहले की तरह कुटीर उद्योग की घरेलू शैली में नहीं चल सकते थे। वहाँ सैकड़ों-हज़ारों मज़दूरों को एक साथ इकट्ठे होकर और एक-दूसरे से सामंजस्य बैठाकर काम करने की ज़रूरत थी। इसलिए समूह में एक दूसरे के साथ तारतम्य बैठाना सिखाने के लिए आज की तरह के औपचारिक विद्यालयों के रूप में समूह में पढ़ाने की व्यवस्था की गई। कारख़ानों और कार्यालयों में मज़दूरों और कामगारों के आने-जाने का समय भी निर्धारित किया गया। आने-जाने की नियमितता और समय पर आना-जाना सिखाने के लिए विद्यालयों की व्यवस्था में भी आने-जाने की नियमितता और समय की पाबंदी को कठोरता के साथ सिखाया जाने लगा। कल-कारख़ानों और दफ्तरों में काम करने के लिए अनुशासित, पाबंद और आज्ञापालक होना निहायत ज़रूरी था। इसलिए विद्यालयों-महाविद्यालयों की पूरी संरचना और पाठ्यचर्या इस तरह निर्धारित किये गये कि वहाँ से निकले हुए मानव-उत्पाद अनुशासित, पाबंद और 'अच्छे अधीनस्थ' हों। जैसे समय से आना और जाना, शिक्षक के प्रति विशेष शिष्टाचार प्रदर्शित करना, होमवर्क या टास्क पूरा करना, नहीं पूरा करने पर दंड स्वीकार करना, शिक्षक के सफल या असफल कहने पर अपने को सफल या असफल मान लेना आदि। 'अच्छे अधीनस्थ' को तैयार करने के लिए इन सारी व्यवस्थाओं का प्रशिक्षण ज़रूरी था। इसीलिए विद्यालयों की स्थापना हुई।

पाठ्यक्रम की भी रूपरेखा दफ्तरों और कल-कारख़ानों की ज़रूरत के अनुसार बनाई गई। दफ्तरों की ज़रूरत थी पढ़ने-लिखने, टिप्पणी, सारांश, पत्र-लेखन आदि की जानकारी की। इसलिए पाठ्यक्रम में इस हुनर को शामिल किया गया। विषय-वस्तुओं में उन्हीं विषयों को शामिल किया गया, जिनकी ज़रूरत एक अच्छे कर्मचारी को हो सकती थी। उन विषयों को आज भी पाठ्यवस्तुओं में स्थान नहीं दिया जाता है, कार्यालयों से अलग जिनकी ज़रूरत व्यक्तिगत जीवन में हो सकती है। जैसे, सिरदर्द, बुखार, गैस बनना आदि रोज़ की स्वास्थ्य समस्याओं से निबटने की कोई जानकारी देने की ज़रूरत नहीं समझी गई, इतिहास में छात्रों को देश और दुनिया के इतिहास से तो अवगत करा दिया जाता है, परंतु उसे अपने गाँव के इतिहास पर नज़र भी डालने की ज़रूरत नहीं बताई जाती है, क्योंकि उसके गाँव के इतिहास से कार्यालयों को कोई मतलब नहीं रहता है। यही बात अन्य विषयों के साथ भी है। अर्थात वही जानकारी छात्रों को दी गई, जिसकी ज़रूरत बाहरी दुनिया और कार्यालयी व्यवहारों के लिए आवश्यक थी। तकनीकी और व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में भी वही हुनर सिखाया जाने लगा, जिसकी ज़रूरत उद्योगों और व्यवसायों को थी। अर्थात तकनीकी और व्यावसायिक पाठ्यक्रमों की भी रूपरेखा इस तरह तैयार की गई, जिससे छात्र अच्छे अधीनस्थ, तकनीशियन और मैनेजर हो सकें।

जब नियोजन के अवसरों का विस्तार होने लगा तो बड़ी संख्या में वे लोग भी नियोजित होने के लिए दस्तक देने लगे, जिन्हें नियोक्ता पहले से नहीं जानते थे। इसलिए उन अभ्यर्थियों के लिए एक ऐसे प्रमाण-पत्र की ज़रूरत हुई, जिससे नियोक्ता को अभ्यर्थियों की न्यूनतम योग्यता का पता चल सके। इसलिए परीक्षा की शुरुआत हुई। शुरुआत में तो शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाएं ही छात्रों की शिक्षा को प्रमाणित करती थीं। परंतु अलग-अलग विद्यालयों की परीक्षा के मानकों और पाठ्यवस्तुओं में अंतर होने के कारण नियोक्ता के लिए अभ्यर्थियों की न्यूनतम क्षमता को समझ पाना कठिन होता था। इसलिए परीक्षा समिति जैसी संस्थाओं का गठन हुआ, जो ज्ञान के प्रमाणीकरण का दायित्व निभाने लगीं। प्रारंभ में प्रांतीय शिक्षा समितियों का गठन हुआ। ऐसी प्रांतीय परीक्षा समिति सर्वप्रथम 1921 में उत्तरप्रदेश बोर्ड ऑफ़ हाई स्कूल एंड इंटरमीडिएट एजुकेशन (माध्यमिक शिक्षा परिषद, उत्तरप्रदेश) और बाद में राष्ट्रीय स्तर पर सेंट्रल बोर्ड ऑफ स्कूल एजुकेशन के रूप में स्थापित की गई। और अब तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी परीक्षाएं आयोजित होने लगी हैं। तात्पर्य यह कि शिक्षा की तरह ही परीक्षा भी औद्योगिक और कार्यालयी ज़रूरतों की पूर्ति के लिए शुरू की गई। धीरे-धीरे इस रूढ़ व्यवस्था ने अपनी जड़ें इतनी गहरी जमा लीं कि काग़ज़ के एक सुंदर टुकड़े पर लिखे चंद शब्दों के बिना कोई भी व्यक्ति अयोग्य होने लगा।

शिक्षा में ये सब औपचारिकताएं, उत्पादन-प्रक्रिया और कार्यालयों के औपचारिक होने के कारण विकसित हुईं तथा विद्यालय-महाविद्यालय, उसके पाठ्यक्रम, पाठ्यवस्तु आदि इसी औद्योगिक, व्यावसायिक और कार्यालयी मांग के अनुरूप निर्मित और निर्धारित किए गए। जब शिक्षा अनौपचारिक होती थी, तब भी उसका पाठ्यक्रम कारोबार के अनुरूप ही होता था और अब भी उसकी निर्धारक शक्तियां वही रहीं। अर्थात कभी भी, कमाई के लिए उपयुक्त हुनर से अलग, विशुद्ध मानवीय ज़रूरत के रूप में उसे नहीं देखा गया। लेकिन एक महत्वपूर्ण अंतर यह आया कि पहले शिक्षा और उसका पाठ्यक्रम समाज और कारोबार की आवश्यकताओं के अनुसार स्वतः निर्धारित हुआ करता था, अब औद्योगिक और कार्यालयी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा और उसके पाठ्यक्रम को राज्य निर्धारित करने लगा। सामाजिक नियंत्रण को राज्य के द्वारा अपहृत कर लिए जाने के पीछे दलील यह दी गई कि सबकी शिक्षा के दायित्व का राज्य ही निर्वहन कर सकता है। यह एक भ्रम सृजित किया गया। राज्य कभी 'सबको शिक्षा' के लिखित इकरारनामे पर खरा नहीं उतरा। राज्य के द्वारा शिक्षा को अपहृत कर लिए जाने के पीछे वास्तविक ध्येय यह था कि उद्योगों और कार्यालयों की आवश्यकताएँ जितनी तेज़ी से बदलती हैं, उतनी तेज़ी से स्वतंत्र सामाजिक

शिक्षण-प्रणाली में बदलाव नहीं हो सकता है। इस तरह उनकी ज़रूरत की पूर्ति समय पर नहीं हो पाएगी। राज्य, पाठ्यक्रमों में बदलाव या नए पाठ्यक्रमों की यथासमय प्रस्तुति के द्वारा औद्योगिक विकास को गति देता रहेगा। इसके साथ ही राज्य-स्तरीय परीक्षाओं के द्वारा वह योग्यता में यथासंभव समरूपता स्थापित करता है, जिससे नियोक्ताओं को अभ्यर्थियों को समझने में सुविधा होती है।

इसलिए 19वीं सदी के शुरुआती चरण, जब से भारत में आधुनिक ढंग के सार्वजनिक विद्यालयों की स्थापना की शुरूआत हुई, से लेकर 2008-10 तक विद्यालयों-महाविद्यालयों और उनमें पढ़ने वालों की संख्या लगातार बढ़ती रही। हर गाँव और टोले-मोहल्ले में स्कूल खोले गए। उस समय जिन बस्तियों में ज़मीन और मकान की व्यवस्था नहीं थी, उन बस्तियों में पेड़ों के नीचे और भाड़े के मकानों में भी पढ़ाई का काम शुरू किया गया। उस समय ज़मीन ख़रीदकर भी विद्यालय खोलने का विज्ञापन सरकार देती थी। पढ़ने के लिए उन्मुख करने के लिए छात्रवृत्ति, भोजन, पोशाक साइकिल आदि की योजनाएँ शुरू की गईं। इसी तरह की बात महाविद्यालयों के लिए भी हुई। महाविद्यालय तो सरकार की ओर से बहुत नहीं खोले गए, लेकिन बड़े पैमाने पर निजी स्तर पर महाविद्यालय खोले गए और सरकार ने भाड़े के भवनों में चलने वाले महाविद्यालयों को भी मुक्त हस्त मान्यता प्रदान की। यही बात तकनीकी शिक्षण संस्थाओं के साथ भी हुई। तकनीशियनों की बढ़ती हुई माँग को देखते हुए सरकारी और निजी स्तर पर तकनीकी संस्थाओं की भीड़ खड़ी कर दी गई। शैक्षणिक संस्थाओं के विस्तार के प्रति राज्य की दिलचस्पी का कारण यह था कि उद्योग-धंधों का विस्तार हो रहा था। कई प्रकार के बैंक, कार्यालय, प्रतिष्ठान और व्यावसायिक संस्थाएं अपने पंख पसार रही थीं और उनकी ज़रूरतों की पूर्ति के लिए भारी संख्या में शिक्षित-प्रशिक्षित मानव-बल की ज़रूरत थी। राज्य ने कल्याणकारी लोकतांत्रिक मुखौटे को पहनकर राजकीय और औद्योगिक-व्यावसायिक ज़रूरतों की पूर्ति की।

लेकिन 21वीं शताब्दी में प्रवेश करने के साथ ही फिर एक भारी परिवर्तन हुआ। अब तक जिन कारख़ानों और दफ्तरों में बड़ी संख्या में मानव-बल प्रयुक्त होते थे, उनकी जगह समझदार मशीनें लेने लगीं। अब हज़ारों मस्तिष्कों और हाथों का काम एक छोटा-सा सॉफ्टवेयर करने लगा। मशीनीकरण और डिजिटलाइजेशन से उत्पादन तो बढ़ा, परंतु उसने बड़ी संख्या में कार्यरत लोगों को कार्य से विमुक्त भी किया। वेतन के मद में अपने लाभ का बड़ा हिस्सा ख़र्च करके भी कर्मचारियों और मज़दूरों के नख़रे झेलते नियोक्ताओं ने इस अवसर को दोनों हाथों से लपका। कर्मचारियों पर होने वाले आवर्ती व्यय और उन्हें नियंत्रित करने की असुविधा से बचने के लिए मुनाफाधारित व्यवसाय की यह ज़रूरत भी थी। बाज़ार की लगातार बढ़ती जा रही प्रतिस्पर्धा के कारण इसने लागत कम करके मूल्य-वृद्धि को नियंत्रित करने से मुनाफ़ा बनाए रखने का साधन भी उपलब्ध कराया। और, इस तरह मनुष्यों की जगह पर मशीनें खड़ी कर दी गईं। परिणाम हुआ कि उत्पादन के पिछले युग में कामगारों की जितनी बड़ी तादाद की ज़रूरत नियोक्ताओं को थी, अब उतने लोगों की ज़रूरत नहीं रही। इसलिए बड़े समुदाय को शिक्षित करने की ज़रूरत भी नहीं रही।

इस सदी के प्रथम दशक के प्रारंभिक चरण तक जहाँ हर गाँव, टोले, मुहल्ले में स्कूल खोले जाने का अभियान चलता था, हर बच्चे तक विद्यालय की पहुँच सुलभ बना देने को राज्य अपनी जवाबदेही बताता था, वहीं दूसरे दशक में प्रवेश करते-करते नए विद्यालय खोलने की चर्चा एकदम ठप हो गई। इसके बाद नए विद्यालय खोले जाने की बात तो दूर की है, खुले हुए विद्यालयों को भी भूमि, भवन, छात्र-संख्या आदि के तर्क देकर, समायोजन के नाम पर बंद करने की परंपरा शुरू हुई। वर्ष 2010-12 तक विद्यालयों में छात्रों की संख्या लगातार बढ़ी, परंतु 2012-13 के बाद विद्यालयों के साथ ही उनमें नामांकित बच्चों की संख्या भी निरंतर घटती जा रही है। बड़ी संख्या में उग आए निजी विद्यालयों की अपार भीड़ के बावजूद यह संख्या घटती जा रही है। देश भर में लाखों विद्यालय समायोजन के नाम पर बंद कर दिए गए। नैक के मूल्यांकन और छात्रों की संख्या को आधार बनाकर महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों को भी बंद करने की योजना तैयार खड़ी है।

औद्योगिक उत्पादनों और कार्यालयी व्यवहारों में नई तकनीक की जब जड़ें जमती हैं, तो मानव-श्रम की आवश्यकता घटती है और तद्प्रभावानुरूप विद्यालयों की संख्या भी घटती हुई नज़र आने लगती है। अर्थात तकनीक के इस अंधाधुंध प्रयोग ने केवल रोज़गार के अवसर ही कम नहीं किए, बल्कि यह शिक्षा के अवसरों से भी वंचित कर रहा है। इस परिणाम का कारण यह है कि राज्य और औद्योगिक समूहों को अब उतनी बड़ी तादाद में मानव-श्रम की आवश्यकता नहीं है। इसलिए शिक्षा से वे अपने हाथ खींचते जा रहे हैं।

क़ानून और नीतियाँ परिस्थितियों की अनुगामी होती हैं। जितनी तीव्रता से परिस्थितियाँ परिवर्तित हो जाती हैं, उनसे क़दम मिलाकर क़ानून और नीतियों में परिवर्तन नहीं होता। कुछ समय के बाद नीतियाँ परिस्थितियों से अपना अनुकूलन करती हैं। शिक्षा नीति भी परिवर्तित परिस्थिति से तारतम्य बैठाने की कोशिश कर रही है। अभी हाल ही में बहुचर्चित नई शिक्षा नीति 2019 इसी बदलती हुई औद्योगिक-कार्यालयी परिस्थितियों के अनुरूप गढ़ी गई है। चूँकि राज्य और औद्योगिक-व्यापारिक समूहों को पहले की तरह शिक्षित और कुशल लोगों की बड़ी तादाद में ज़रूरत नहीं है, इसीलिए नई शिक्षा नीति में शिक्षा के अनौपचारीकरण, दूरस्थीकरण और डिजिटलाइजेशन के महत्व को स्थापित करके औपचारिक विद्यालयों-महाविद्यालयों की संख्या नियंत्रित की जा रही है।

शिक्षा उपयुक्तीकरण के इसी दौर से गुज़र रही है। कार्यालयी और औद्योगिक व्यवहारों को अब जितने शिक्षितों की आवश्यकता है, उसकी पूर्ति 15 प्रतिशत लोगों को शिक्षित करके की जा सकती है। इसलिए ज़ाहिर है कि नई शैक्षिक नीतियाँ सबको शिक्षा प्रदान करने की जवाबदेही नहीं लेंगी। यदि काग़ज़ी जवाबदेही वह स्वीकार भी करती है, लोकतांत्रिक व्यवस्था में जिसकी ज़रूरत होती है, तो भी व्यावहारिक रूप से राज्य वह जवाबदेही नहीं निभाएगा। जैसे 2009 में सबको मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा के काग़ज़ी अधिकार का वचन तो दिया गया, लेकिन इसके साथ ही सार्वजनिक शिक्षा को निजी शिक्षण संस्थानों के सम्मुख घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया गया और सार्वजनिक विद्यालय उत्प्रेरण का लाभ पाने के केंद्र बनकर रह गए। अब, नई शिक्षा नीति 2020 नीतिगत रूप से शैक्षणिक अवसरों को सीमित कर रही है।

समझदार मशीनों और कृत्रिम बुद्धि के बढ़ते प्रभाव के इस युग में कौशल-प्रशिक्षण के साथ ही बुनियादी विषयों की शिक्षा सबको कैसे प्राप्त हो, इसका संयमित रास्ता ढूँढना आज शिक्षाशास्त्रियों के सम्मुख महती दायित्व है। ❑

डॉ. गया प्रसाद कटियार

जिन्होंने अंग्रेजों से कभी माफी नहीं मांगी

अंग्रेज़ों से माफ़ी माँगकर कालापानी की सज़ा माफ़ करवाने वाले विनायक दामोदर सावरकर को 'वीर' बताने का आजकल सरकारी प्रोजेक्ट चल रहा है, ऐसे में आज उसी अंडमान में काले पानी की सज़ा काटने वाले वाले डॉ. गया प्रसाद कटियार का जुनून याद आता है। भगत सिंह के साथी डॉ. कटियार ने कभी माफ़ी नहीं माँगी। उनके दल के दूसरे साथियों ने भी नहीं माँगी। सच्चाई ये है कि कालापानी में सैकड़ों की तादाद में क्रांतकारी बंद थे, जिनमें सिर्फ तीन लोगों ने माफ़ी माँगी थी। सावरकर और उनके भाई का नाम इस सूची में दर्ज है। कानपुर के इंदिरानगर में रहने वाली डा.सुमन बाला कटियार लिखती हैं-

घटना 1925 की है। उन दिनों क्रांतिकारी आंदोलन पूरे जोरों पर था। देश भर के नवयुवकों ने भारत माता को स्वतंत्र कराने हेतु एक क्रांतिकारी दल का गठन किया, जिसका नाम था हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी, जिसके कमांडर इन चीफ़ थे चंद्रशेखर आज़ाद और दल के बौद्धिक नेता थे सरदार भगत सिंह। डा.गया प्रसाद कटियार उस दल के सक्रिय सदस्य थे, पर जब दल को पता चला कि वे शादीशुदा व्यक्ति हैं तो उन्हें रखने से मनाकर दिया गया। कहा गया कि अपनी पत्नी से इजाज़त लेकर आने पर ही वे दल में रह सकते हैं।

डॉ. गया प्रसाद कटियार अपनी पत्नी रज्जो देवी के पास पहुँचे और बोले-'मैं क्रांतिकारी पार्टी का सदस्य बनना चाहता हूँ। तुम अपना सिंदूर पोंछ लो और समझो लो कि तुम विधवा हो गयी हो।'

यह सुनकर रज्जो देवी रो पड़ीं। उन्हें रोता देख गया प्रसाद ने कहा कि 'तुमने तो हर फ़ैसले में मेरा साथ देने का वादा किया था। आज यह वादा भूलकर रोना कैसा!' रज्जो देवी ने अपने आपको संभालकर उत्तर दिया, 'मैं अंत तक अपना वचन निभाऊँगी। इस समय देश को समर्पित करने के लिए मेरे पास तुमसे अधिक मूल्यवान और कोई वस्तु नहीं है। आज से मैं तुम्हें परिवार के सभी माया मोह से मुक्त करती हूँ। जाओ बैरागी, जिस रास्ते पर चल पड़े हो, उसे अंत तक निभाना और पीछे मुड़कर मत देखना। यह कहकर उन्होंने अपने हाथ से अपना सिंदूर पोंछ दिया।

क्रांतिकारी पार्टी में शामिल होने के बाद डॉ. गया प्रसाद सहारनपुर बम फ़ैक्ट्री का

उनके संघर्ष का तारीखी विवरण हमें उनके पुत्र क्रांति कुमार कटियार से प्राप्त हुआ है जो इस प्रकार है-

15 मई 1929 को सहारनपुर बम फैक्ट्री से गिरफ्तार हुए। 15 मई से 31 मई 1929 ई. तक सहारनपुर कोतवाली (पुलिस रिमांड)। 1 जून से 10 जुलाई 1929 तक लाहौर फोर्ट हवालात। 10 जुलाई 1929 से 7 अक्टूबर 1930 तक लाहौर बोर्सटल जेल में रहे। (यहीं पर लाहौर षडयंत्र केस चला और आजीवन कालापानी की सजा मिली।) 7-10-1930 से नवंबर 1930 तक लाहौर सेंट्रल जेल में रहे। 1 दिसंबर 1930 से 31.12.1930 न्यू सेंट्रल जेल मुल्तान (अब पकिस्तान) में रहे। जनवरी 1931 से अक्टूबर 1932 तक बेलारी सेंट्रल जेल (कर्नाटक) में रहे। नवंबर 1932 से सितम्बर 1937 तक सेल्यूलर जेल, अंडमान निकोबार (काला पानी) में रहे। सितम्बर 1937 से नवंबर 1937 तक दमदम सेंट्रल जेल, कलकत्ता में रहे। दिसंबर 1937 लाहौर सेंट्रल जेल में रहे। जनवरी 1938, नैनी सेंट्रल जेल (इलाहबाद) में रहे। फरवरी 1938 से जून 1942 तक लखनऊ सेंट्रल जेल में रहे। जुलाई 1942 से जनवरी 1945 तक सुल्तानपुर जेल में रहे। जनवरी 1945 से फरवरी 1946 तक कानपुर सेंट्रल जेल में रहे। 21 फरवरी 1946 को जेल से रिहा किये गये।

स्वतंत्र भारत में जेल यात्राओं का दौर-
1. सन् 1958 में छह माह का जेल जीवन।
2. सन् 1964 से 1966 तक डेढ़ वर्ष का जेल जीवन।

संचालन करते हुए गिरफ्तार हो गये और पुलिस सुपरिन्टेंडेंट सांडर्स की हत्या में शामिल होने के इल्ज़ाम में प्रसिद्ध लाहौर षड्यंत्र केस में आजीवन कारावास की सज़ा देकर उन्हें काला पानी भेज दिया गया। रज्जो देवी फिर कभी जीते जी अपने पति के दर्शन नहीं कर सकीं।

डॉ. गयाप्रसाद कटियार भारत के प्रखर क्रांतिकारी थे। उनका जन्म उत्तर प्रदेश के कानपुर की बिल्हौर तहसील के खजुरी खुर्द गाँव में 20 जून सन् 1900 को हुआ था। उन्होंने 1921 के असहयोग आन्दोलन में भाग लिया, लेकिन बाद में गणेश शंकर विद्यार्थी के संपर्क में आये, जिनके अख़बार 'प्रताप' में भगत सिंह भी छिपकर काम करते थे। चंद्रशेखर आज़ाद का भी आना जाना होता था। कानपुर तब क्रांतिकारियों का गढ़ था। ऐसे में डॉ. कटियार भी दल में शामिल हो गये।

डॉ. गया प्रसाद कटियार ने सांडर्स वध की योजना, भगतसिंह के केश व दाढ़ी काटने, HSRA के गुप्त केंद्रीय कार्यालयों का संचालन करने सहित दिल्ली की पार्लियामेंट में फेंके गए बम के निर्माण आदि गतिविधियों में सक्रिय रूप से अपना योगदान दिया और अंततः 15 मई 1929 को सहारनपुर बम फैक्ट्री का संचालन करते हुए गिरफ्तार हुए। उन्हें देश के सुप्रसिद्ध लाहौर षड्यंत्र केस में दिनांक 7 अक्टूबर 1930 को आजीवन कारावास की सजा दी गई।

लाहौर की जेल में उन्होंने अन्य बन्दियों के साथ 63 दिन की भूख हड़ताल की। यतींद्रनाथ दास के नेतृत्व में हुई यह वही हड़ताल थी, जिसके बाद राजनीतिक क़ैदियों को विशेष सुविधाएँ देना मंज़ूर किया गया। यतींद्रनाथ दास इस हड़ताल की वजह से शहीद हो गये। डॉ. कटियार को बाद में उन्हें अण्डमान द्वीप की सेल्यूलर जेल; काला पानी . ले जाया गया। वहाँ भी उन्होने 46 दिन भूख हड़ताल की। अन्ततः लगातार 17 वर्षों के लंबे जेल जीवन में कई अमानवीय यातनाओं को सहने के बाद वे 21 फरवरी 1946 को बिना शर्त जेल से मुक्त किये गये।

डॉ. कटियार को स्वतंत्र भारत में भी शोषित-पीड़ित जनता के लिए संघर्षरत होने के कारण 2 वर्षों तक जेल में रहना पड़ा। अपनी मृत्यु से कुछ साल पहले उन्होंने कहा था कि क्रांतिकारियों ने इस देश के लिए जैसा नक्शा देखा था, उसका एक कोना भी पूरा नहीं हो पाया। डॉ. कटियार ने 1929 से 1946 तक 17 साल जेल यातना झेली। 65 दिन के अनशन में डटे रहे। शादीशुदा थे, घर पर पत्नी और बेटी भी थी। फिर भी कभी झुके नही और ना ही माफी मांगी। ❑

पीरो प्रेमण

एक दलित यौनकर्मी की कवयित्री बनने की कहानी

'न मैं मुसलमान हूँ न हिंदू. न मैं समाज के चार वर्ण यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र को मानती हूँ और न ही किसी ख़ास तरह के भेष धारण करने को.'

ये शब्द आज से लगभग दो सौ साल पहले लिखे गए थे और बुलंदी से तब के पितृसत्तात्मक, जातिवादी और धार्मिक रूढ़िवादिता भरे समाज को चुनौती दे रहे थे.

पंजाब के कुछ इतिहासकार इसे लिखने वाली पीरो प्रेमण को पंजाब की पहली कवयित्री मानते हैं, वहीं कुछ जगहों पर पीरो का असली नाम आयशा होने का जिक्र भी मिलता है.

पीरो पर लिखी गई एक पंजाबी किताब 'सुर पीरो' के मुताबिक़ उनका जन्म सन् 1810 के आस पास माना जाता है. पीरो एक ग़रीब परिवार और निचली जाति से आती थीं.

पंजाब यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर जसबीर सिंह ने बीबीसी पंजाबी से कहा, 'पीरो के शुरुआती जीवन पर नज़र डालें तो वह बहुत ही डिस्टर्ब रहा है.' वे आगे कहते हैं, 'जिस आदमी से उनकी शादी हुई, उसकी मौत के बाद उन्हें बहुत कम उम्र में ही देह व्यापार में धकेल दिया गया.

उन्हें लाहौर की हीरामंडी में बेच दिया गया. लेकिन जैसे-तैसे वे वहां से भाग निकलीं और साधु गुलाबदास के डेरे तक पहुंच गईं. उन्हें लेकर वहां विवाद हुआ, लेकिन विवाद सुलझने पर वे वहीं रहने लगीं.'

पीरो के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है, लेकिन जसबीर सिंह के मुताबिक़ गुलाबदास के डेरे पर ही कविताओं की तरफ़ उनका आग्रह बढ़ा और उनका नाम पीरो प्रेमण पड़ गया.

इतिहासकार डॉ. राज कुमार हंस ने बीबीसी को बताया, 'पीरो उनका असल नाम नहीं था. उनका असल नाम आयशा था, लेकिन जब वे गुलाबदास के संपर्क में आईं और डेरे में आकर रहने लगीं, तब वे इतनी गुणी और ज्ञानी थीं कि उन्हें पीर का दर्जा दिया गया. लेकिन वे औरत थीं तो पीर से उनका नाम पीरो रख दिया गया. उन्हें पीरो प्रेमण इसलिए कहा जाता था, क्योंकि वे पीरो या पीर तो हैं ही, लेकिन बहुत बड़ी प्रेमण भी हैं. और ये प्रेमण किसकी हैं, तो वह हैं गुलाबदास और ऊपर वाले की.'

यही पीरो आंदोलनकारी कविताएं भी लिख रही थीं. ये उन्नीसवीं सदी का वह दौर था, जब पंजाब में राजनीतिक उथल-पुथल हो रही थी और महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद यह रियासत धीरे-धीरे ब्रिटिश राज का हिस्सा बन रही थी.

इस माहौल में पीरो अपनी आंदोलनकारी कविताओं के ज़रिए सामाजिक रूढ़ियों को चुनौती दे रहीं थीं. पीरो मानती थीं कि समाज को जिस ऊंच-नीच या भेदभाव के बंधन में बांधा जा रहा है, वह कुदरत के नियम के खिलाफ़ है.

डॉ जसबीर सिंह ने इस बारे में बताया, 'वे अपनी कविताओं के ज़रिए चुनौती देती थीं कि आपने सुन्नत कर ली और मूंछ मुंडवा ली तो आप तुर्क हो गए. चुटिया रख ली तो ब्राह्मण हो गए. सिख धर्म पर भी वे ऐसे ही टिप्पणी करती हैं. फिर वे कहती हैं कि औरत के पास तो ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे वह किसी धर्म को अपना सके.'

'इसका मतलब ये हुआ कि ये जो ख़ास किस्म का धार्मिक कट्टरवाद है, जो प्रतीकों या पहचान पर टिका हुआ है, वे उन्हें चुनौती देती हैं कि ये धर्म नहीं है. धर्म तो इससे बड़ी एक घटना है. जो वे खुद के लिए टाइटिल इस्तेमाल कर रही हैं, उसमें वे अपने लिए वैश्य या गणिका का प्रयोग कर रही हैं, जो भक्ति परंपरा में भी आता है.'

जसबीर सिंह कहते हैं, 'पितृसत्ता औरत पर एक ख़ास किस्म की पहचान लागू करती है और वह उन्हीं के माध्यम से और उन्हीं की भाषा में चुनौती देती हैं. इसी तरह जात-पात को लेकर भी वे ये बताने में नहीं झिझकीं कि वे निचली जाति से आती हैं या वे शूद्र हैं. तो ये जो समाज को ग्रेड में बांट दिया गया है, चाहे वह धर्म का हो, पितृसत्ता या जात-पात का हो, वे सबको चुनौती देती हैं.'

पीरो के बारे में जितनी जानकारी उपलब्ध है, उसके अनुसार उन्होंने करीब 160 काफिये लिखे. पीरो अपने तजुर्बों के आधार पर कविताएँ लिखतीं थीं. बेबाकी से समाज में रहकर उन्हीं से सवाल पूछना उस ज़माने में यक़ीनन क्रांतिकारी था.

पीरो को पढ़ने वाले लोग उन्हें उन्नीसवीं सदी में पितृसत्ता, जातिवाद और धार्मिक रूढ़िवादिता के खिलाफ़ एक प्रतीक मानते हैं. वहीं इतिहासकार मानते है कि पंजाब में कई महिलाएं निर्भीक होकर अपनी लेखनी के ज़रिए आवाज़ उठा रही है, उठाती रही हैं, इस जज़्बे को पीरो की कलम ने नयी धार दी, इससे इंकार नहीं किया जा सकता. - **नवदीप कौर**

कोरोना के बाद वैश्विक स्तर पर कृत्रिम अर्थव्यवस्था की पैदाइश

❑ अमिताभ शुक्ल

कोरोना-त्रासदी से उत्पन्न नई वैश्विक अर्थव्यवस्था द्वारा एक नई कृत्रिम वैश्विक अर्थव्यवस्था का जन्म हुआ है, जिसमें आवश्यकता, निवेश, उत्पादन और उपभोग के स्वरूप को बदल दिया गया है। इसके पूर्व वैश्विक अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के द्वारा विकासशील देशों में शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन, पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन, तकनीकी परिवर्तन और आर्थिक सुधारों पर जोर दिया गया था, उत्पादन और उपभोग के स्वरूप में परिवर्तन लाते हुए उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को बदलते हुए, उनके उपभोक्ता व्यय में वृद्धि करते हुए पूंजीवादी अर्थव्यवस्था द्वारा किए जाने वाले उत्पादन का उपभोग करने और रोजगार के नाम पर वृहद उद्योगों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए स्किल्ड कर्मचारी तैयार किए गए थे।

अब नए तरीकों से विश्व में ऑनलाइन व्यापार के द्वारा व्यापार का अंतरराष्ट्रीय ढांचा खड़ा करते हुए विश्व के अन्य देशों में उत्पादित सामग्रियों के विक्रय के द्वारा नए व्यापारिक साम्राज्य का निर्माण किया गया है और इस वैश्विक त्रासदी से जनित कृत्रिम अर्थव्यवस्था के अंतर्गत इस पद्धति से किए जाने वाले व्यापार में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। इसके साथ ही दवा निर्माता कंपनियों और जीवन रक्षक तथा प्रतिरोधक दवाइयों के व्यापार में अत्यधिक वृद्धि हो रही है।

एक ऐसी अर्थव्यवस्था में जब भारत जैसी 2.5 ट्रिलियन डॉलर की अर्थव्यवस्था को 5 ट्रिलियन डॉलर की अर्थव्यवस्था बनाने के उद्देश्य से बहुराष्ट्रीय कंपनियों को देश में पूंजी निवेश की अनुमति देते हुए उपभोक्ता और औद्योगिक वस्तुओं के निर्यात द्वारा कुल राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने के लक्ष्य निर्धारित किए जा रहे हों, रोजगार और आम आदमी की आय में वृद्धि के उद्देश्य पीछे रह गए हैं।

वर्तमान परिदृश्य में चूंकि, प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न देशों में आर्थिक हितों और पूंजीवादी व्यापार व्यवस्था को बढ़ावा देने वाली नीतियों पर बल देना ही सरकारों की प्राथमिकता है, अतः अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धांतों के आधार पर अर्थव्यवस्थाओं का संचालन न होकर इस पूंजीवादी व्यवस्था के निर्णयों और नीतियों से ही अर्थव्यवस्थाओं का निर्माण और संचालन किया जाएगा, जिसमें वास्तविक आवश्यकताओं के स्थान पर कृत्रिम आवश्यकताओं की प्रमुखता होगी और इसके लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा टेक्नोलॉजी के आधार पर निर्मित नई उपभोक्ता सामग्री अनिवार्य रहेगी। जैसा कि स्पष्ट है, जीवनशैली भी परिवर्तित होगी, यही 'न्यू नॉर्मल' है, जिसमें सब कुछ, उन अदृश्य शक्तियों के द्वारा निर्धारित और निर्मित किया जा रहा है, जिनका उद्देश्य अधिक से अधिक पूंजी अर्जित करते हुए, विश्व के आर्थिक संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित करते हुए विश्व की लगभग 7.5 बिलियन जनसंख्या के जीवन को नियंत्रित करते हुए उन उद्देश्यों को प्राप्त करना है, जो समय के साथ-साथ प्रकट होंगे और आम आदमी का जीवन अनिश्चितताओं और पर-निर्भरताओं में रहेगा।

दूसरी ओर आर्थिक शक्ति बनने की प्रतिस्पर्धा में सामरिक शक्ति का प्रयोग और भय उत्पन्न किया जाता रहेगा। इनमें किसी नये राजनीतिक दर्शन एवं स्वदेशी अर्थव्यवस्था को बढ़ावा देने वाली नीतियों और आम नागरिकों की खुशहाली के विचारों और योजनाओं का अभाव होना स्वभाविक है।

नई कृत्रिम वैश्विक आर्थिक व्यवस्था की प्राथमिकताएं विश्व व्यापार, नवीनतम और अत्याधुनिक तकनीकी के प्रयोग द्वारा उत्पादन वृद्धि तथा व्यावसायिक घरानों की आय में वृद्धि इत्यादि ही होंगी। उदाहरणार्थ, कोरोना के प्रभाव के कारण जब मॉल, थिएटर और मल्टीप्लेक्स बंद हैं, तब मनोरंजन के क्षेत्र में दो बिलियन डालर के बाजार पर कब्जा करने के लिए अमेजॉन प्राइम और नेटफ्लिक्स जैसी ओवरटॉप की कंपनियां प्रयास कर रही हैं और बोस्टन कंसल्टेंसी की रिपोर्ट के अनुसार अगले 3 वर्षों में इन 80 कंपनियों द्वारा भारत में 5 बिलियन डालर का बाजार स्थापित किया जाएगा। इसके परिणाम स्वरूप, भारत में इस क्षेत्र से रोजगार प्राप्त करने वालों का रोजगार स्थाई रूप से समाप्त हो जाएगा। इस प्रकार मीडिया के क्षेत्र में भारतीय समाचार पत्रों और उनसे रोजगार प्राप्त करने वालों पर भी विपरीत भाव दृष्टिगोचर हो रहे हैं, क्योंकि गूगल और फेसबुक जैसी कंपनियों द्वारा इस क्षेत्र में प्रभाव बढ़ाया जा रहा है एवं इस प्रकार की डिजिटल कंपनियों द्वारा भारत से प्रतिवर्ष 20 लाख करोड़ रुपए से ज्यादा का कारोबार किया जा रहा है। लेकिन, इन कंपनियों को भारतीय कानूनों और टैक्स के दायरे से छूट प्राप्त है।

नई वैश्विक और भारतीय अर्थव्यवस्था के स्वरूप में होने वाले परिवर्तन, विदेशी और भारतीय व्यापारिक गठजोड़ और इससे उन को होने वाले लाभों को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। वर्ष 2016 में 40 अरब डॉलर के निवेश से जिओ प्लेटफार्म की स्थापना की गई थी। तथापि, व्यापार की जिओ प्लेटफार्म की अत्यधिक महत्वाकांक्षी योजना हेतु और अधिक निवेश की आवश्यकता थी। इस हेतु कोरोना त्रासदी के पश्चात अप्रैल 2020 में फेसबुक द्वारा जिओ प्लेटफार्म में 43, 547 करोड़ रुपए के निवेश द्वारा 9.99% की हिस्सेदारी का क्रय किया गया। इस निवेश वृद्धि के परिणाम स्वरूप जिओ प्लेटफार्म के मार्केट का विस्तार होगा और टेलीग्राम सेवाओं यथा डिजिटल सर्विसेज, मोबाइल, ब्रॉडबैंड, एप्स कैपेबिलिटीज इत्यादि का विस्तार होगा। दूसरी ओर फेसबुक को भारत में जिओ के 38.80 करोड़ यूजर्स तक पहुंच प्राप्त होगी। स्पष्ट है कि एक विदेशी और एक भारतीय कंपनी के व्यवसायिक हितों के तालमेल से उनके निवेश में वृद्धि होकर, व्यापार और लाभ में अत्यधिक वृद्धि होगी और यह सब भारत सरकार द्वारा भारत को 5 ट्रिलियन डॉलर इकोनामी बनाने की दौड़ में शामिल होने के कारण किया जा रहा है।

इन ईकॉमर्स कंपनियों की गतिविधियों के द्वारा भारत में छोटे व्यवसायियों को व्यावसायिक लाभ प्राप्त होंगे और उपभोक्ताओं को डिजिटल विश्व के द्वारा प्रदान की जाने वाली सुविधाओं और सेवाओं की प्राप्ति होगी। यह समस्त क्रियाएं, अर्थात वैश्विक आर्थिक संकट, डिजिटल कंपनियों के निवेश, व्यवसाय का विस्तार और उनसे प्राप्त लाभ आपस में जुड़े हुए हैं। इस प्रकार से, एक कृत्रिम मांग उत्पन्न कर उस से व्यापार स्थापित कर लाभ प्राप्त करना जारी रहेगा। ❑

राजनैतिक दलों के अंदर लोकतंत्र का अभाव है

(चुनाव सुधार संबंधी राष्ट्रीय संवाद की रपट)

जनतंत्र समाज की ओर से विगत 26 जून 2021 को चुनाव सुधार पर केन्द्रित राष्ट्रीय संवाद का आयोजन किया गया।

कार्यक्रम की शुरुआत में जनतंत्र समाज का गौरवपूर्ण इतिहास बताया गया और अतिथियों का स्वागत किया गया। अध्यक्ष हीरेमठ जी ने चर्चा की शुरुआत करते हुए बताया कि चुनाव सुधार का वास्तविक लक्ष्य लोकतांत्रिक सुधार होना चाहिए। मूल समस्या चुनाव में खर्च की है। पैसा कहाँ से आता है और कहाँ खर्च होता है, इसमें कोई पारदर्शिता नहीं है। इलेक्शन बांड का अधिकांश पैसा सत्तारूढ़ दल को मिलता है। राजनैतिक दल आरटीआई का जवाब नहीं देना चाहते हैं।दलों के अंदर लोकतंत्र का अभाव है। राजनैतिक सुधार कोई राजनैतिक दल नहीं चाहता है। इसके लिए गैरदलीय संगठनों को आगे बढ़कर लोकतंत्र बचाने की लड़ाई लड़नी होगी। आगामी लोकसभा चुनाव को देखते हुए अभी से संयुक्त आन्दोलन करने की जरूरत है।

प्रो आनंद कुमार ने कहा कि देश में लोकतंत्र खत्म है चुका है। चुनाव में धनशक्ति का आतंक खत्म होना चाहिए। ईवीएम आदि में सुधार से ज्यादा फर्क नहीं पड़ने वाला। दलों के खर्च की फंडिंग सरकार करे। प्रायः सभी दल पैसा लेकर टिकट बांट रहे हैं। दल जरूरी हैं, पर उनमें सुधार आवश्यक है।दल अपने जनप्रतिनिधियों के साथ गुलाम जैसा व्यवहार करते हैं। सभी राजनैतिक दलों से संवाद किया जाना चाहिए। चुनाव आयोग में भी सुधार की जरूरत है। अभी से कार्यक्रम बनाना जरूरी है।

मेधा पाटकर ने कहा कि मेरा चुनावी राजनीति का अनुभव कम है, पर मूल समस्या राजनीति में मूल्यों के अभाव की है। जब शराब, पैसे, उपहार आदि के बल पर चुनाव जीते जायेंगे तो लोकतंत्र कैसे बचेगा? चुनाव जीतने के लिए साम्प्रदायिकता, जातिवाद आदि को भड़का कर देश को बर्बाद किया जा रहा है। राजनैतिक दलों में न उद्देश्य है, न नैतिकता, न कार्यकर्ता। ईमानदार लोगों की कमी है। होना यह चाहिए कि चुनाव खर्च की फंडिंग सरकार करे। एक ही मंच से सभी दल चुनाव प्रचार करें। चुनाव क्षेत्र छोटे होने चाहिए। प्रतिनिधि वापसी का अधिकार लागू होना चाहिए। जनवादी आन्दोलनों को लोकतंत्र की रक्षा के लिए अभी से आगे आना चाहिए।

कुमार प्रशांत ने कहा कि वर्तमान व्यवस्था प्रायः सभी राजनैतिक दलों के लिए अच्छी है। जनतंत्र समाज का जन्म ही लोकतंत्र की रक्षा के लिए हुआ था। उसे नयी परीस्थिति मे नयी राजनीति के लिए पहल करनी चाहिए। अभी तो चुनाव का अर्थ ही बदल गया है। बिहार में विधायक का टिकट पाने के लिए कम से कम एक करोड़, चुनाव लड़ने के लिए कम से कम एक करोड़ और पदाधिकारी बनने के लिए भी एक करोड़ लग जाता है। ईमानदार कार्यकर्ता तीन करोड़ कहाँ से लायेगा? सदन में लूटने वाले ही जायेंगे। गलत नीयत से लाया गया इलेक्शन बांड विधेयक भी गलत तरीक़े से पास कराया गया। चुनाव आयोग का गठन कैसे हो, यह भी विचार का विषय है। आज मीडिया भी जनमत को प्रदूषित कर रही है। एवरीमैन्स जैसी कोई पत्रिका नहीं है।

अखिलेन्द्र प्रताप सिंह ने कहा कि यह आज का सबसे बड़ा ज्वलंत प्रश्न है और इस पर बहुत बड़ा आन्दोलन हो सकता है। इलेक्शन बांड सिर्फ़ पारदर्शिता का सवाल नहीं है। इससे हमारी आजादी भी खतरे में पड गई है। देशी ही नहीं, विदेशी कंपनियां भी पैसे के बल पर सरकारी नीतियों को प्रभावित कर रही हैं।

गोपीनाथ कन्नन ने कहा कि ईवीएम मशीन में सुधार किया जा सकता है, जिससे वोटर संतुष्ट हो सके कि उसका वोट सही जा रहा है। कुलदीप सक्सेना ने कहा कि सुप्रीम कोर्ट सुनिश्चित करे कि कुछ ईवीएम मशीनों का मिलान किया जाता रहे। मणिमाला ने भी कहा कि मतदाता की संतुष्टि सर्वोपरि है। जगदीप छोकर ने बताया कि मामला सुप्रीम कोर्ट में लटका हुआ है।

मणिमाला ने बताया कि गांधी जी ने संसदीय लोकतंत्र को तवायफ बताया था। लोकतंत्र सिर्फ़ चुनाव नहीं होता। ग्रामस्वराज्य को मजबूत करने के लिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण जरूरी है। लोकतंत्र में महिलाओं, दलितों आदि की भागीदारी मजबूत होनी चाहिये। शुभमूर्ति ने कहा कि राजनैतिक दल जनता और लोकतंत्र के खिलाफ षड्यंत्र करते हैं। राजनैतिक दलों में सुधार के लिए जन दबाव जरूरी है। चुनाव आयोग की निष्पक्षता के लिए कानूनी प्रक्रिया अपनायी जा सकती है। अनिल सिन्हा ने कहा कि संसदीय लोकतंत्र को आरएसएस जैसे संगठनों से खतरे पर भी विचार करने की जरूरत है। सर्व सेवा संघ के अध्यक्ष चंदन पाल ने कहा कि चुनाव और राजनैतिक सुधार अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इस पर गैरदलीय संगठनों और आंदोलनों का एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया जाना चाहिए। तेजिंदर सिंह आहूजा ने कहा कि बहुत मुद्दे नहीं लेने चाहिए। इलेक्शन बांड रद्द करने और इलेक्शन कमीशन की निष्पक्षता पर ही आंदोलन किया जाना चाहिए।

घनश्याम ने जयप्रकाश नारायण के लेख 'रीकंस्ट्रक्शन आफ डेमोक्रेसी' की चर्चा की। उन्होंने भी माना कि चुनाव सुधार लोकतांत्रिक सुधारों का एक छोटा हिस्सा है। मूल प्रश्न इलेक्शन बांड और राजनैतिक दलों में सुधार का है। ज्ञानेंद्र ने कहा कि चुनाव में धन का खेल रोका जाना जरूरी है। इसके लिए जिस व्यापक आन्दोलन की जरूरत है, वह किसी एक संगठन से संभव नहीं है। इसके लिए एक व्यापक प्लेटफार्म बनाने की जरूरत है। प्रो योगेंद्र ने भी कहा कि देश में लोकतंत्र नहीं है। इन मुद्दों पर जनता से सीधे संवाद की जरूरत है। सिर्फ चुनाव सुधार केन्द्रीय मुद्दा नहीं बन सकता है। अविनाश मिश्र ने कहा कि आज लोकतंत्र की स्थिति सबसे गंभीर है। इस आन्दोलन में युवाओं के अलावा मजदूरों, किसानों को भी जोड़ने का प्रयास किया जाना जरूरी है। मंथन ने कहा कि अभी कार्यप्रणाली को लेकर द्वंद्व है, पर लोकतंत्र को बचाना जरूरी है। अंत में अध्यक्ष महोदय ने कहा कि समय आ गया है, हमें अभी से लोकतंत्र बचाने के लिए लग जाना चाहिए।

-रामशरण

'Sarvodaya Jagat' Hindi Fortnightly
Registered under RNI No. 35495/78, Postal Registration No. VSI-(E) 04, Valid upto 31 December 2023
Issued by S.S.P.O. Varanasi (East Division)

सरकार है या सूचना केन्द्र!

❑ देवेंद्र आर्य

सरकार हमें सूचना देती है कि आने वाला है।
हम ख़ुश हो जाते हैं,
बिना यह जाने कि कौन आने वाला है,
विकास या वबा!
सरकार हमें बताती है कि अब जाने वाला है।
हम मगन हो जाते हैं,
बिना यह जाने कि क्या जाने वाला है,
आतंकवाद या भाईचारा!
कभी-कभी कुछ लोगों के मुंह प्रश्नचिह्न-से लटक जाते हैं।
काम में ध्यान लगाए सरकार
घचपचिया जाती है।
उसे देखने नहीं, दिखाने की आदत है,
सुनने नहीं, सुनाने की आदत है,
मन की बात हो या राफेल सम्बंधी सवाल!

जब सरकार का मुंह बुख़ार के बाद की तरह कड़वा हो जाता है कचोधन से,
वह मीडिया को निर्देश देती है कि सावधान!
कुछ लोग देश के विकास से जल रहे हैं।

नहाने के लिए कपड़े तो उतारने ही पड़ेंगे न!
पेड़ भी रहें और राजपथ भी प्रशस्त,
यह सत्तर साल पुरानी भुकड़ियाई सोच
नहीं चलेगी।

सरकार हमें बताती है कि कब नहाना है,
हम साल भर पहले ही कुम्भ नहा आते।
कौन से लोकतंत्र पर जल छिड़कना है,
हम रोग पिशाच निकट नहीं आवें रटते हुए
श्मशान में रुद्राभिषेक करते।
घर आकर साबुन से हाथ धो, काढ़ा पी लेते।

मुंह पर जाबा, कोई नयी बात नहीं हमारे लिए
सरकार बताती है कि
अब संसद में अंड़सा हो रहा है।
विपक्ष के बहिर्गमन से काम नहीं चलने का,
हम अस्पताल, आक्सीजन, टीका, डाक्टर,
दवाई, मंहगाई, स्कूल, पढ़ाई
सब न्यौछावर कर देते है,
नव निर्माण के लिए।

सरकार बताती है कि जीडीपी बढ़ रही है,
ख़ुश होकर हम दाल में सौ ग्राम की कमी कर लेते हैं।
ख़ुशी ख़ुशी गुल्लक फोड़,
मंदिर के लिए चंदा देते हैं;
कि परलोक फिट रहे
ई लोक तो सत्तर साल में बर्बाद होइए गया
ऐसे में जब कोई चंदे का हिसाब मांगता है न!
तो मन करता है कि
उसे कोरोना माई उठा ले जाएं।

सरकार जब बताती है कि थाली बजाने से
वायरस बहरा हो जाता है,
तो हम दिया बुझा के महाभारत लड़ने वाली सरकार
का हौसला बढ़ाते हैं कि वह अंधा भी हो जाए,
लोगों को कपड़े से न पहचाने।

लाल फीताशाही में पले सार्वजनिक क्षेत्र के
परखनली हिलाते वैज्ञानिकों को
सरकार टाइट करती है—
ऐ मिस्टर ऐप्रेन! जल्दी,
तुरंत देश के लिए टीका ज़रूरी है।

हम डाक्टरों और सरकार की मजबूरी समझते हुए,
ग्लूकोज नमक पानी ठोंकवा कर
इम्यूनिटी बढ़वा लेते हैं।

सरकार बताती है कि लॉकडाउन से
अर्थ व्यवस्था गिर रही है,
हम उसे लाशों की थुन्नी लगा भहराने से रोकते हैं।
घरों में क़ैद हो जाते हैं कि
विधेयक पास होते रहें निर्विघ्न।

सरकार बताती है कि बढ़ गए,
हम स्वास्थ्य कर्मियों को गरियाने लगते हैं
सरकार बताती है कि घट गए,
हम कब्रिस्तानों, श्मशानों की तस्वीरों में
देश विरोधियों की तलाश करने लगते हैं;
जो पतित पावनी को पोतना बनाने पर उतारू हैं।

सरकार हमें आत्मनिर्भर बनाना चाहती है,
हम अपनी सांसों में कटौती कर
आक्सीजन स्वावलम्बी हो जाते हैं।
सरकार हमें ग्लोबल बनाती है,
हम सिर झुका कर सारी समस्या की जड़
कराची और बीजिंग में खोज लेते हैं।

सरकार हमें लोकल बनाती है,
हम डीह बाबा वाली परम्परा में एडजस्ट हो जाते हैं।
सरकार हमें वोकल बनाती है,
हम किसानों को टुकड़े टुकड़े गैंग साबित करने लगते हैं।

हम चुनी हुई सरकार को परेशान नहीं करते,
हमारा निशाना हारा विपक्ष होता है।
सरकार बेचारी ख़ुदे परेशान है,
बैंक बेच बेच, विश्व बैंक से कर्जा उठा रही है
कि देश का पेट-पर्दा और
रामलला दूनों चलता रहे।
सोचिए न!
ओतना लम्बा पटेल का फ्री में खड़े हो गए?

कई पेंडिंग एजेंडे पड़े हुए हैं अभी,
दिन हैं कि खिसकते जा रहे हैं।
अगला कार्यकाल हथियाये बिना
काम चलेगा नहीं, कैसे क्या जुगाड़ हो?
कहां से माल-ए-मुफ्त मिले कि
दिल-ए-बेरहम खुले?
सरकार इसी में परेशान है कि
खेला होबे ना वालों को
कैसे लाइन पर लाया जाए।

सबसे पहले स्वतः संज्ञानी काले कोट वालों को सफ़ेद बनाना है,
फिर सफ़ेद इतिहास को काला करना है।
अब क्या अट्ठारह घंटे काम करने वाली सरकार की, जान लेंगे आप?

पता नहीं किस पुराण में कहा गया है!
नाम याद नहीं आ रहा
कि सरकार का काम, काम करना नहीं
देश को उठौना पर देकर काम कराना है।

सरकार बहस में उलझना नहीं चाहती,
मुड़ियाए हुए अपने को सूचना एवं सलाह तक सीमित रखती है।
अच्छा हुआ तो वाह वाह!
बुरा हुआ तो देशद्रोहियों की चाल!

सरकार सतर्क है, इसलिए चुप है।
चुप है, इसलिए राष्ट्रीय है।
राष्ट्रीय है, इसलिए सवालों से परे है।
उसका राष्ट्रीय दायित्व है,
नारे गढ़ना और तुक मिलाना।

बोल कर बदनामी उठाने से बचती है सरकार
कि आए थे हरि भजन को ओटन लगे कपास
वाली कहानी दुहरा न दी जाए।

बदहाली है, तो ये एक सौ तीस करोड़ आत्मनिर्भर
किस काम आएंगे?

सोचिए!
काम जनता न करे और बदनाम हो सरकार?
हद है यार! ❑

सर्व सेवा संघ (स्वत्वाधिकारी) के लिए प्रकाशक अरविन्द अंजुम द्वारा सर्व सेवा संघ परिसर, राजघाट, वाराणसी (उ.प्र.) 221001 से प्रकाशित तथा महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित। संपादक : बिमल कुमार